प्रकाशकीय निवेदन

यह बडा सुखद सयोग है कि भगवान् महावीर के २५वें निर्वाण शताब्दी समारोह के समापन के साथ ही उन्ही के धर्मशासन के इस युग के महान् क्रातिकारी युग-पुरुष श्रीमद् जवाहराचार्य का जन्म शताब्दी–समारोह मनाने का हमे सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा का जन्म सं० १९३२ मे कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को थादला (म प्र) मे हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था मे आपने जैन भागवती दीक्षा अगीकृत की और स० १९७७ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। स० २००० मे आषाढ शुक्ला अष्टमी को भीनासर (बीकानेर) मे आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व बडा आकर्षक और प्रभाव-शाली था। आपकी दृष्टि बडी उदार तथा विचार विश्व-मैत्रीभाव व राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत थे। आपने राष्ट्रीय स्वतत्रता-आन्दोलन के सत्याग्रह, अहिंसक प्रतिरोध, खादी-धारण, गोपालन, अछूतोद्धार, व्यसनमुक्ति जैसे रचनात्मक कार्यक्रमो मे सहयोग देने की जनमानस को प्रेरणा दी और दहेजप्रथा, बालविवाह, वृद्धविवाह, मृत्युभोज, सूदखोरी जैसी कुप्रथाओ के खिलाफ लोकमानस को जागृत किया। आपके

राष्ट्रधर्मी क्रान्तद्रष्टा व्यक्तित्व से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गाधी, लोकमान्य तिलक, प० मदनमोहन मालवीय, सरदार पटेल आदि राष्ट्रनेता आपके सम्पर्क मे आये ।

आप प्रखर वक्ता और असाधारण वाग्मी महापुरुष थे । 'जवाहर किरणावली' नाम से कई भागो मे प्रका-शित आपका प्रेरणादायी विशाल साहित्य राष्ट्र की अमूल्य निधि है । वह ओज, शक्ति और सस्कार–निर्माण का जीवन्त साहित्य है । इस साहित्य से प्रेरणा पाकर हजारों लोगो ने अपने जीवन का उत्थान किया है । ऐसे महान् ज्योतिर्धर आचार्य का साहित्य केवल जैन समाज की ही सम्पत्ति नही है, उसे विश्व–मानव तक पहुचाना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है ।

इसी भावना से प्रेरित होकर जन्म-शताब्दी–वर्ष मे हमने आचार्य श्री की प्रेरणादायी जीवनी तथा धर्म, समाज, राष्ट्रीयता, शिक्षा, नारी-जागरण जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर प्रकट किये गये, उनके विचारो को सुगम पुस्तकमाला के रूप मे जन-जन तक पहुचाने का निर्णय लिया है । प्रस्तुत पुस्तक उसी योजना का एक अ ग है । इसी योजना के अन्तर्गत अन्य भाषाओ मे भी कतिपय पुस्तको का प्रकाशन विचाराधीन है ।

इस प्रकाशन–योजना को मूर्तरूप देने हेतु अखिल भारतीय स्तर पर सघ के अधीन गत वर्ष "श्री जवाहर

साहित्य प्रकाशन निधि" स्थापित करने का निर्णय किया गया । निर्णय के क्रियान्वयन मे श्रीयुत् जुगराज जी सा घोका, मद्रास की प्रेरणा एव सक्रिय सहयोग विशेष उल्लेखनीय एव उपयोगी रहा । सघ इनके लिए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है ।

इस योजना की क्रियान्विति मे योजना के मानद-सम्पादक डा० नरेन्द्र भानावत व अन्य विद्वान् लेखको का जो आत्मीयतापूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

आशा है, यह सुगम पुस्तकमाला पाठकों के चरित्र-निर्माण एव वैचारिक उन्नयन मे विशेष प्रेरक सिद्ध होगी ।

गुमानमल चोरडिया — अध्यक्ष

भवरलाल कोठारी — मन्त्री

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर

संयोजकीय वक्तव्य

भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास का यह एक रोचक तथ्य है कि जैन परम्परा अविच्छिन्न रूप मे अद्यावधि चली आ रही है। इसी गौरवमयी परम्परा मे आज से १०० वर्ष पूर्व सयम, साधना एव ज्ञान-ज्योति को प्रज्वलित करने वाले युग-प्रवर्तक क्रान्तदर्शी आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा का जन्म हुआ। आपने धर्म को आत्मा का प्रकृत स्वभाव माना और आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण व स्वस्थ समाज-रचना का बुनियादी आधार मानते हुए युगीन सन्दर्भों मे उसे व्याख्यायित किया। इससे धर्म का तेजस्वी रूप प्रकट हुआ और समाज तथा राष्ट्र को समानता तथा स्वतन्त्रता के पुनीत पथ पर निरन्तर आगे बढते रहने की प्रेरणा मिली।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि ऐसे महान्

प्रतापी ज्योतिर्धर आचार्य का 'जन्म शताब्दी महोत्सव' अखिल भारतीय स्तर पर तप-त्यागपूर्वक मनाया जा रहा है और इस उपलक्ष्य मे श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने आचार्य श्री के जीवन-प्रसगो और उपदेशो से सर्व साधारण को परिचित कराने के लिए 'श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तक-माला' योजना के अन्तर्गत कतिपय पुस्तके प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इसी योजना के अन्तर्गत यह पुस्तक पाठको के कर-कमलो मे सौंपते हुए हमे आनन्द की अनुभूति हो रही है।

इस पुस्तक के लेखक श्री महावीर कोटिया सजग लेखक, प्रबुद्ध सामाजिक कार्यकर्ता, जागरूक शिक्षक और सरस कथाकार है। इनके दो लघु उपन्यास और एक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके है। अपने लेखन मे ये अनावश्यक विस्तार से बचते हैं। कम शब्दो व नपी-तुली भाषा मे सहज ढग से अपनी बात कहना इन्हे अधिक पसन्द है। हमारे निवेदन पर इन्होने यह पुस्तक लिखना स्वीकार किया जो स्वय मे श्रीमद् जवाहराचार्य के प्रति इनकी श्रद्धा का प्रतीक है। स्वयं अनुभवी शिक्षक और शिक्षा जगत् की वर्तमान परिस्थितियो

से परिचित होने के कारण ये आचार्यश्री के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को हृदयगम कर सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके हैं । आशा है, इस पुस्तक के आस्वाद-आचरण से समाज को और विशेषतः शिक्षा जगत् को स्निग्ध-पुष्ट स्वस्थता और नई रोशनी प्राप्त हो सकेगी । इसी विश्वास के साथ—

१ जनवरी, ७७ नरेन्द्र भानावत

जयपुर (राज०) संयोजक-सम्पादक

श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला

लेखकीय

'दीवसमा आयरिया, दिप्पति पर च दीवेति' आचार्य दीपक के समान होते है, वे स्वय प्रकाशवान् रहते है तथा दूसरो को भी प्रकाशित करते हैं। आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा. के सन्दर्भ मे यह शास्त्र-कथन पूर्णत· उपयुक्त है। आचार्यश्री अपने समय के ऐसे ज्योतिर्धर आचार्य थे जिनकी प्रखर ज्ञान-ज्योति ने अज्ञानान्धकार से आवृत अनेकानेक हृदय-दीपो को प्रकाशमान किया, उनको नई दृष्टि दी और जीवन की सार्थकता का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी चिन्तना दूरगामी और विलक्षण थी। अपने अनेक प्रवचनो के माध्यम से उन्होने तत्कालीन राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक जीवन के विविध पहलुओ पर अपने स्वानुभूत, आत्मप्रसूत तथा मौलिक विचार प्रकट किए। उनकी ज्ञान-ज्योति से दीप्त ये विचार-दीप युग-

युगो तक तमसावृत हृदयों को आलोकित करते रहेंगे ।

मेरे लिए यह सुखद व सौभाग्यपूर्ण संयोग का अवसर था कि माननीय डॉ नरेन्द्र जी भानावत की प्रेरणा से मैंने ऐसे समर्थ आचार्यश्री की जीवनी तथा साहित्य का अनुशीलन किया । आचार्यश्री के कार्यों और विचारो का परिचय जैसे-जैसे मुझे होता गया, मैं उनके प्रति श्रद्धावनत होता गया और इसीलिए जब श्रीमान् भानावत सा के माध्यम से श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला योजना के अन्तर्गत आचार्यश्री की सक्षिप्त जीवनी तथा शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारो पर आधारित पुस्तक लिख देने का प्रस्ताव आया तो मेरा मन प्रफुल्लित हो गया, क्योकि आचार्यश्री के प्रति अपनी श्रद्धा-भावना को प्रकट करने का इससे अधिक उपयुक्त अवसर और कौनसा प्राप्त होता ?

प्रस्तुत पुस्तक आचार्यश्री के शिक्षा सम्बन्धी विचारो को प्रबुद्ध पाठको तक पहुँचाने का एक विनम्र प्रयास है । पृष्ठभूमि के रूप मे पुस्तक के प्रथम भाग मे शिक्षा सम्बन्धी जैन विचारधारा को प्रकट किया गया है । इसमें जैन दृष्टि मे शिक्षा

का उद्देश्य, शिक्षण-विधि, शिक्षा के विषय (पाठ्य-क्रम) अध्यापक तथा विद्यार्थियों की योग्यता तथा सबको समानता के धरातल पर अपनी योग्यता-नुसार शिक्षा पाने के अधिकार की विवेचना की गई है।

दूसरे भाग में, आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की विवेचना की गई है। आचार्यश्री ने शिक्षा का उद्देश्य, वर्तमान शिक्षा पद्धति, आधुनिक शिक्षा के दोष, अंग्रेजी-शिक्षा का प्रभाव, शिक्षक व शिक्षा-प्रशास्ता के कर्त्तव्य, बालक की शिक्षा में माता-पिता का उत्तरदायित्व, स्त्री-शिक्षा, संस्कृत भाषा व साहित्य की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा का स्वरूप तथा शिक्षा का माध्यम जैसे आधुनिक शिक्षा के ज्वलन्त प्रश्नों पर तटस्थ व व्यावहारिक दृष्टिकोण से अपने विचार प्रस्तुत किए है। उनके विचार न केवल पठनीय व मननीय है, अपितु व्यवहार में लाने योग्य हैं। अगर हम स्वतन्त्र भारत की भावी पीढ़ी को सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा देना चाहते है, उसे चरित्रवान नागरिक बनाकर राष्ट्रीय-चारित्र्य का सही परिप्रेक्ष्य मे निर्माण करना चाहते है, तो उनके विचार हमारे लिए

प्रकाशस्तंभ हैं।

पुस्तक का प्रणयन आचार्य श्री के जन्मशताब्दी वर्ष मे 'श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तक माला' योजना के अन्तर्गत किया गया है। मैं इस योजना के सयोजक-सम्पादक आदरणीय डॉ० नरेन्द्र जी भानावत तथा प्रकाशक श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ के पदाधिकारियो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हू।

महावीर कोटिया

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

परिशिष्ट

श्रीमद् जवाहराचार्य
शिक्षा

प्रथम खण्ड

शिक्षा : जैन दृष्टि

शिक्षा : जैन दृष्टि

शिक्षा सम्बन्धी जैन विचार-धारा धार्मिक चिन्तन-मनन की सहभागिनी भूमिका के रूप मे ही पनपी तथा विकसित हुई है । जैन-विचारको ने शिक्षा पर धर्म से असम्पृक्त होकर विचार नही किया है । इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि मे व्यक्ति का धार्मिक तथा सामाजिक जीवन अलग अलग नही है । वस्तुत धर्म और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । धर्म आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वह जीवन की आवश्यकता है, जीवन का आधार है । धर्म से अलग होकर जीवन हो ही नही सकता । अत जीवन से सम्वन्धित कोई भी पद्धति व विचारधारा धार्मिक प्रक्रिया का ही अनिवार्य अ ग है ।

जैनियो का शिक्षा सम्वन्वी समस्त दृष्टिकोण यथा शिक्षा का उद्देश्य, अध्यापक तथा विद्यार्थी की

योग्यता तथा कर्त्तव्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति, शिक्षा सस्थाओ का स्वरूप तथा स्त्री-शूद्रादि की शिक्षा आदि विषयो पर जो भी विचार जैनागमो, अन्य जैन सिद्धान्त ग्रन्थो तथा जैन-साहित्य मे उपलब्ध होते हैं—वे मूलत धार्मिक प्रक्रिया के अंग के रूप मे ही वर्णित है। जैन विद्वानों ने समाज-व्यवस्था के एक अग के रूप मे शिक्षा-दर्शन पर अलग से अपने कोई मन्तव्य प्रस्तुत नही किए हैं परन्तु इसका यह भी तात्पर्य नही है कि शिक्षा सम्बन्धी उनके विचार सामाजिक परिप्रेक्ष्य से अलग होकर है। वस्तुतः, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, धर्म और समाज-व्यवस्था परस्पराश्रित है, अत शिक्षा जहा सामाजिक-व्यवस्था का अनिवार्य अग है, वहा धार्मिक प्रक्रिया का भी। अतः शिक्षा सम्बन्धी जैन विचारधारा जितनी धार्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी।

शिक्षा का उद्देश्य

जैन दृष्टि मे मानव-जीवन का लक्ष्य है, 'मुक्ति प्राप्त करना।' अत. शिक्षा का उद्देश्य है मानव को मुक्ति की ओर ले जाने का ज्ञान देना। जो शिक्षा (ज्ञान) इस उद्देश्य की पूर्ति मे सक्षम नही है, वह

एकागी या अधूरी हैं। भगवान महावीर ने कहा—'जो जानता है, वही बन्धनो को तोडता है। ज्ञान की सार्थकता अन्धकार को दूर करके आलोक को प्राप्त करना है।'[1]

जैन-दृष्टि मे प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति आदि गुणो से परिपूर्ण है। उसके ये गुण अज्ञान के द्वारा मलिन बने रहते हैं, ढके रहते हैं। शिक्षा का लक्ष्य इस अज्ञान को, इस अन्धकार या मलिनता को दूर कर, सच्चे ज्ञान का आलोक देना है।

जैन धर्म मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र इस रत्न-त्रय को मोक्ष मार्ग कहा है।[2] सम्यग्ज्ञान वह है जिससे तत्त्व का, यथार्थ का बोध मिले। सम्यग्-दर्शन से तत्त्वार्थ पर अडिग विश्वास,

---

१—'बुज्झिज्जति तिउट्टिज्जा, बधण परिजाणिया'

— सूत्रकृताग सूत्र

२—नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥

—उत्तराध्ययन

दृढ प्रतीति होती है । सम्यक् चारित्र द्वारा अन्तः करण की वृत्तियो का नियमन होता है तथा जीवन का अन्तरग स्वस्थ व सबुद्ध बनता है । इन तीनो का समन्वय ही आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाने वाला है ।

इस रत्नत्रयी में चारित्र को बडा महत्त्व प्राप्त है । सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के द्वारा ही सम्यक् चारित्र को प्राप्त किया जा सकता है । सम्यक् चारित्र के द्वारा ही मुक्ति का सधान किया जा सकता है । इस दृष्टि से चारित्र्य ही शिक्षा है । 'चारित्त खलु सिखा' । आत्मा का परिष्कार ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये । अशुभ कर्मो से निवृत्त होना और शुभ कर्मों की ओर प्रेरणा होना ही सच्ची शिक्षा है । यही चारित्र्य है ।[1] इस प्रकार जैन दृष्टि मे चारित्रवान बनना ही सच्ची शिक्षा है । उत्तम चारित्र के द्वारा ही आत्मा अपने लक्ष्य को मुक्ति को प्राप्त कर सकती है । चरित्र-पालन के लिए भगवान् महावीर ने पच व्रतो का विधान किया है- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य

१—'असुहाहो विणिवित्ती सुहे पवित्ति य जाण चरित' ।

विकास व्यक्ति को 'मुमुक्षु' (मुक्ति पाने का इच्छुक) बनाता है। ज्ञान प्राप्ति की श्रेष्ठतम सीमा 'आत्म-ज्ञान' की है। 'आचारांग सूत्र' में कहा गया है—

'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ'

जो एक (आत्म स्वरूप) को जानता है, वह सबको जानता है। इस प्रकार जैन दृष्टि मे शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण के द्वारा आत्म-स्वरूप को पहचानना है, मुक्ति के मार्ग का सन्धान करना है। 'उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है—
नादसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

श्रद्धाहीन को ज्ञान नही होता, ज्ञानहीन को आचरण नहो होता, आचरणहीन को मोक्ष नही मिलता और मोक्ष पाए विना निर्वाण-पूर्ण शान्ति नही मिलती।

जैन-परम्परा में शिक्षक

जैन परम्परा मे गुरु अथवा आचार्य का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। जैन-धर्म के मगल-मन्त्र 'णमोकार' में जिन पच परमेष्ठियो की वन्दना है, उनमे अरि-हन्त तथा सिद्ध के बाद आचार्य तथा उपाध्याय की

वन्दना है । उपाध्याय मुनिसंघ मे सर्वाधिक ज्ञानी तथा मुनियो को पढाने वाले, उन्हे ज्ञान देने वाले होते हैं । आचार्य सघनायक होते हैं । वे चतुर्विध सघ—साधु, साध्विया, श्रावक-श्राविकाए—सभी के मार्गदर्शक होते हैं । वे महान् ज्ञानी, श्रेष्ठ तपस्वी, आचारवान, सर्वभूतहित की भावना से अनुप्राणित श्रेष्ठ पुरुष होते हैं ।

साधु-समाज मे उपाध्याय तथा आचार्य परमेष्ठी के कार्य, स्थान तथा दायित्व की दृष्टि से हम उन्हे साधुवर्ग के क्रमश अध्यापक तथा मुख्याध्यापक (प्राचार्य) कहे तो अप्रासंगिक नही होगा । तात्पर्य यह है कि जो गुण तथा दायित्व उपाध्याय तथा आचार्य परमेष्ठी के हैं वे ही गुण तथा दायित्व-बोध क्रमश अध्यापक तथा शिक्षा-क्षेत्र के प्रशासको के होने चाहिये । इस प्रकार जैन-परम्परा जहा शिक्षक को समाज मे परम-आदरणीय स्थान देती है, वही शिक्षक से अपेक्षा भी तदनुसार बहुत कुछ करती है ।

जैन-परम्परा मे आचार्य तथा उपाध्याय परमेष्ठी के गुण तथा विशेषताओ आदि के बारे मे शास्त्रो से पर्याप्त विवरण उपलब्ध है । उनके अनेक

गुणो का वर्णन वहां दिया गया है। उसका उल्लेख तो यहा अनावश्यक है, परन्तु उसके आधार पर जैन परम्परा मे गुरु की आवश्यक योग्यताए तथा अपेक्षाओं का स्वरूप समझा जा सकता है। तदनुसार शिक्षक को आचारवान, विचारवान, शास्त्रो का ज्ञाता व त्यागी तपस्वी होना चाहिए। उसे उस दीपक की तरह होना चाहिए जो स्वय तो प्रकाशमान है ही, साथ ही अपने अनेक शिष्यो के आत्म-दीपो को भी प्रदीप्त करने की क्षमता रखने वाला है।[1] सक्षेप मे वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र का साकार स्वरूप होना चाहिए।

जैन-परम्परा मे विद्यार्थी

जैन परम्परानुसार आत्मा की अन्तिम गति अन्ततः मुक्ति ही है, और मुक्ति बिना ज्ञान के हो नही सकती। अत ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है। इसमे लिंग, वर्ण, जाति आदि किसी भी प्रकार का भेदभाव अनुचित है। 'दशवैकालिक' सूत्र मे कहा गया है—

---

१ जह दीवा दीवसय, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पति पर च दीवेंति॥

पढम नाण तओ दया, एव चिट्ठइ सव्वसजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिइ सेय-पावग ?

पहले ज्ञान है, पीछे दया-आचरण। सभी सयम-यात्रा के लिए इसी क्रम से आगे वढते है। अज्ञानी मनुष्य क्या आत्म-साधना करेगा ? वह श्रेय तथा अश्रेय के पार्थक्य को कैसे जान सकेगा ?

अत ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार विना किसी भेदभाव के सभी को है। इस प्रकार जैन-परम्परा पुरुषो के समान ही स्त्रियो की, सवर्णो के साथ ही असवर्णो की—सवकी शिक्षा प्राप्ति के अधिकार की पुष्टि करती है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र[1] मे हरिकेशी मुनि का वर्णन है जो कि चाण्डाल कुलोत्पन्न होते हुए भी अपनी सयमाराधना व ज्ञानप्राप्ति के द्वारा सभी के पूज्य वन सके, गुणो से अलंकृत हो सके।

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको होते हुए भी सभी इसके योग्य पात्र नही हो सकते। विद्यार्थी मे कतिपय ऐसे गुण होने चाहिए, ताकि

१ उत्तराध्ययन सूत्र १२/१ ।

उसे विद्या प्राप्ति हेतु उपयुक्त पात्र माना जा सके । 'उत्तराध्ययन' सूत्र में इन गुणो को इस प्रकार बताया गया है—

विद्यार्थी का उत्साही विद्याप्रेमी मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक है । इसके विपरीत आज्ञा को न मानने वाला, गुरुजन के हृदय से दूर रहने वाला, विरोधी तथा अविवेकी शिष्य 'अविनीत' कहा गया है तथा उसे शिक्षा का अधिकारी नही माना गया है । शिष्य के लिए वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन बोलने वाला, बिना सोचे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनो से वैर करने वाला नही होना चाहिए । उसे गुरुजनो की पीठ के पास अथवा आगे-पीछे नही बैठना चाहिए । गुरु के इतना पास भी नही बैठना चाहिए कि जिससे उसके पैरो का गुरु के पैरो से स्पर्श हो । अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को कभी प्रत्युत्तर नही देना चाहिए । गुरु-जनो के समक्ष ठीक प्रकार से अनुशासन मे बैठना चाहिए । उसका आसन नीचा होना चाहिए । आचार्य के बुलाने तथा प्रश्न पूछने पर कभी मौन नही रहना चाहिए, गुरु-कृपेच्छु तथा मुमुक्षु शिष्य

को तत्काल ही गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए ।[1]

इस प्रकार विद्यार्थी का जिज्ञासु, विनम्र, आज्ञापालक, शुभ-कर्मा, ज्ञानप्राप्ति के प्रति उत्साही, गुरु के उपदेश पर ध्यान देकर अर्थ को समझने वाला व तदनुसार आचरण करने वाला होना चाहिए ।

अध्ययन के विषय

जैन-शास्त्रो मे अध्ययन के अनेक विषयो का उल्लेख हुआ है जिनमे वेद, वेदाग, न्याय मीमासा, पुराण, धर्मशास्त्र, गणित, व्याकरण, छदशास्त्र, काव्य-कला, ज्योतिष, मृत्तिका विज्ञान, गृह-निर्माण कला, युद्ध विज्ञान, रसायन शास्त्र, चिह्न विज्ञान, स्वास्थ्य शिक्षा तथा भोजन विज्ञान आदि हैं । ज्ञाताधर्म कथा तथा नन्दी सूत्र मे ७२ कलाओ का उल्लेख है ।[2] इनको १३ वर्गो मे विभक्त किया गया है । इस प्रकार पाठ्यक्रम मे जहा आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक व शारीरिक विकास के अनेक विषय सम्मिलित

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, १ । ४,६,१३,१४,१७,१८–२३ ।
२ ज्ञाताधर्म कथा १।२० नन्दी सूत्र ४२ ।

थे, वही व्यावहारिक ज्ञान से सम्वन्धित अनेक विपयों का अध्ययन भी कराया जाता था। विद्यार्थी अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार विपयो मे दक्षता प्राप्त करते थे।

शिक्षण-विधि :

जैन शिक्षण-विधि के दो महत्त्वपूर्ण अग हैं। (१) श्रवण और (२) स्वाध्याय। गुरु से उपदेश सुनकर ज्ञान प्राप्त करना तथा स्वाध्याय व चिन्तन-मनन के द्वारा उसे आत्मसात् करना।

उपदेश-श्रवण से तत्त्व का वोध होता है। शुभ और अशुभ का, कल्याण का और पाप का ज्ञान इससे होता है।[1] वैसे भी शिक्षा ग्रहण करने मे प्रथम स्थिति गुरु से ज्ञान लेने की है। स्वाध्याय अगली स्थिति है जब कि शिष्य इतना समर्थ हो जाए कि वह स्वय अध्ययन कर विपय की गहराई मे पहुच सके। स्वाध्याय से मानवीय प्रतिभा का विकास होता है तथा नूतन तथ्यो का उद्घाटन

---

१ सोच्चा जाणइ कल्याण, सोच्चा जाणइ पावग।
उभयपि जाणइ सोच्चा, ज सेय त समाचरे॥
—दशवैकालिक सूत्र ४।११।

होता है । ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के मूल मे स्वाध्याय ही है । इसलिए स्वाध्याय को तप कहा गया है । शास्त्र-कथन है—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झावो ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥[1]

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा करना) स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) इस तरह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है । स्वाध्याय को इनमे सर्वश्रेष्ठ तप कहा गया है । 'न वि अत्थि न वि य हो ही, सज्झायसम तवो कम्म'[2] अर्थात् स्वाध्याय के समान तप न तो है, न हुआ है और न होगा ।

इस प्रकार जैन-परम्परा शिक्षण-विधि के रूप मे स्वाध्याय को अन्यतम स्थान देती है । गुरु से उपदेश श्रवण (प्रवचन) तथा स्वाध्याय इनसे ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है । 'शतपथ ब्राह्मण' मे भी कहा गया है—स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का

---

१ समणसुत्त, गाथा ४५६ ।
२ वही ४७९ ।

चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र बन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियों पर सयम होता है, उसकी प्रज्ञा वढ जाती है तथा उसे यश प्राप्त होता है।

शिक्षा का उद्देश्य मन और बुद्धि का परिष्कार कर व्यक्ति को मुमुक्षु बनाना है। अत शिक्षण-विधि वही श्रेष्ठ है जो इस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक है। इस दृष्टि से प्रवचन और स्वाध्याय दोनो की महत्ता असदिग्ध है।

स्वयं-शिक्षण (स्वाध्याय) के पांच प्रकार :

जैन-शास्त्रो मे स्वाध्याय के पाच प्रकार (या पाच सोपान) कहे गए हैं—(१) वाचना (२) प्रच्छना (३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा तथा (५) धर्म कथा।[१]

वाचना से तात्पर्य है वाचन स्वयं अध्ययन। एकाग्रचित्त होकर मनोयोगपूर्वक विषय-सामग्री का स्वयं अध्ययन करना। बिना अध्ययन के ज्ञान की थाह

---

१ परियट्टणा य वायणा, पडिच्छणाणुवेहणा य धम्मकहा।
थुदि मगल सजुत्तो, पच विहो होइ सज्झाओ॥
—समण सुत्त ४७५।

पाना मुश्किल है। अत जैन-शास्त्रो मे अध्ययन को प्रमुखतम व प्रथम स्थान दिया गया है। अध्ययन क्रम मे वहुत-सी वाते ऐसी आती है, जहा आचार्य के स्पष्टीकरण की सहायता से ही विषय-वस्तु को समझा जा सकता है। कहा भी गया है 'विना गुरु के ज्ञान नही आता।' अत प्रच्छना अध्ययन क्रम का द्वितीय सोपान है। प्रच्छना अर्थात् पूछना-विद्यार्थी द्वारा अपने गुरु से शका-समाधान करना। अध्ययन-क्रम मे जो वात समझ मे नही आ सकी है, उसके सम्बन्ध मे गुरु से प्रश्न करके अपना समाधान पाना। विद्यार्थी को सच्चे जिज्ञासु की भाति विनम्रतापूर्वक प्रश्न पूछ कर अपने ज्ञान मे वृद्धि करनी चाहिए। परिवर्तना तृतीय सोपान है। विद्यार्थी द्वारा विषय-वस्तु की पुनरावृत्ति करना। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को दोहरा कर आत्मसात् करना। उसे अपना वना लेना। अध्ययन क्रम मे विषय वस्तु को वार-वार दोहराना अपेक्षित आवश्यक कर्म है। परन्तु यहां ध्यान रखना है कि इससे तात्पर्य 'तोता रटन्त' नही है, अपितु विचारपूर्वक समझते हुए, आत्मसात् करने हेतु विषय वस्तु को दोहराना है। इस क्रम मे चौथा पद है अनुप्रेक्षा का, जव ज्ञान को अपना वना लिया है,

आत्मसात् कर लिया है तब चिन्तन-मनन का मार्ग खुलता है। चिन्तन-मनन के द्वारा ही ज्ञान के नवीन रहस्यो का उद्घाटन होता है। ज्ञान की पर्तें खुलती जाती है। साधक स्वय चमत्कृत होता जाता है। ज्ञान के अगाध समुद्र मे गोता लगाकर वह मोती प्राप्त करता है और इस प्रकार सच्चे ज्ञान की तह पाकर वह दूसरो से वार्तालाप के माध्यम से ज्ञान की किरणें विकीर्ण करता है। अत· धर्मकथा अध्ययन-क्रम का अन्तिम पाचवा सोपान है। ज्ञान का साधक अन्य समान धर्मियो के साथ विपयवस्तु पर विचार-विमर्श करते हुए अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को दूसरो तक पहुचाता है।

द्वितीय खण्ड

शिक्षा : आचार्यश्री की दृष्टि

शिक्षा : आचार्यश्री की दृष्टि

आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा अपने समय के असाधारण सन्त थे। उनका व्यक्तित्व बडा प्रभावक था। जहा वे अप्रतिम साहसी, सूझ-बूझ के धनी व दृढ निश्चयी थे, वही अद्भुत वक्ता, दूर-दर्शी विचारक, प्रभावशाली धर्म नायक, स्वतन्त्रता के ज्योतिर्धर तथा दीन-दुखी व पीडितो के पक्षधर थे। अज्ञान और अन्ध विश्वास के कारण सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूप से पगु समाज को ऊंचा उठाने का उन्होने जीवन-पर्यन्त प्रयत्न किया। अपने प्रवचनो मे उन्होने सामाजिक कुरीतियो, धार्मिक अन्धविश्वासो तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई तथा भारतीय समाज मे व्याप्त इन बुराइयो को दूर करने के लिए जन-मानस को तैयार करने का महत्तर प्रयास किया। उनके प्रवचनो की विषय-वस्तु का क्षेत्र बडा व्यापक था।

धर्म, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, शिक्षा, नैतिकता, स्वदेशी आन्दोलन, नारी उत्थान आदि अनेक विषयो पर उनके मौलिक चिन्तन अनुभूतिपरक स्पष्ट विचार आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण और मननीय है जितने उस समय थे। यहा शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारो का विवेचन व विश्लेपण करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

समाज की उन्नति और विकास की रीढ शिक्षा है। शिक्षित होकर ही व्यक्ति सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियो व अन्धविश्वासो को तिलाञ्जलि देने मे सक्षम हो सकता है। शिक्षा ही वास्तव में मनुष्य को मनुष्य वनाती है। वह उसमे सस्कार पैदा करती है, बदलते परिवेश, मूल्य और सन्दर्भों के साथ उसे समायोजित होने को तैयार करती है। इसीलिए वह समाज अथवा राष्ट्र रूपी भवन की आधारशिला है। कोई भी सक्षम, दूरदर्शी व अनुभवी नेता चाहे वह धार्मिक राजनैतिक अथवा सामाजिक किसी भी क्षेत्र मे काम कर रहा हो, शिक्षा की कभी उपेक्षा नही कर सकता। आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा यद्यपि धर्माचार्य थे, लौकिक शिक्षा से उनका कोई निकट का सम्पर्क या सम्बन्ध नही था, परन्तु उनकी दूरदर्शी दृष्टि

से तत्कालीन शिक्षा मे व्याप्त बुराइयां अनचीन्ही न रह सकी । इस दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्य तथा शिक्षण–क्रम में शिक्षक व माता-पिता के दायित्व-वोध का भी अपने प्रवचनो मे उन्होने बहुविध उल्लेख किया तथा सही व सच्ची शिक्षा की ओर जनमानस का ध्यान आकृष्ट किया । आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा ने शिक्षा के जिन पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए, वे ये हैं—(१) शिक्षा का उद्देश्य (२) वर्तमान शिक्षा (३) स्त्री शिक्षा और (४) आदर्श शिक्षक । आगे इन्ही शीर्षको मे उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों की विवेचना की जा रही है ।

१. शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा कैसी हो, वह किस प्रकार दी जाए आदि प्रश्नो पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि हम निश्चित करें—शिक्षा क्यों दी जाए ? शिक्षा का हमारा उद्देश्य क्या है ? अपने लक्ष्य को ठीक तरह जाने बिना हम निरुद्देश्य भटकते ही रहेगे, कुछ निश्चित पाने की स्थिति मे नही होगे । आचार्यश्री की दृष्टि मे शिक्षा एक निश्चित लक्ष्य को पाने के लिए है और वह लक्ष्य

है—मानव का चरम लक्ष्य मुक्ति। शिक्षा मुक्ति के लिए है। आचार्यश्री ने शिक्षा को बन्धन-मुक्ति का साधन बताया। 'सा विद्या या विमुक्तये' इस सूत्र वाक्य को उद्धृत करते हुए उन्होने कहा है-"मानव समाज पराधीनता, अज्ञान, निर्बलता, निस्तेजता, वासना आदि बन्धनों से बंधा है। वह विषम परि-स्थितियो से जकडा है। उसकी अन्तरात्मा जकडी रहती है। इन समस्त बन्धनों से छूटना विद्या है। जिसके द्वारा शरीर रोगो एवं दुर्बलताओं से छूटता है, बुद्धि अज्ञान और कुत्सित विचारों से मुक्त होती है, हृदय कठोरता और कुसंस्कारो से छूटता है, और आत्मा कर्म के आवरण से छूटता है, वह शिक्षा है, विद्या है, तालीम है।

सच्ची शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक रसवृत्ति को लम्पटता से मुक्त करती है। शक्ति को मद से मुक्त करती है तथा आत्मा को कृपणता एवं अहं-कार के पजे से मुक्त करती है।

वास्तविक शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक विशेष-ताओं को उनकी विरोधी शक्ति एव विकृतियो से मुक्त करके निखालिस विकसित स्वरूप प्रदान करती है। इसी से मानव जीवन का सस्कार होता है

ग्रौर वह संस्कार मानव को परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है ।"[1]

इस प्रकार शिक्षा की प्राथमिक आवश्यकता है कि वह व्यक्ति को सस्कारित करे, उसे सुसस्कृत बनाए । यह सस्कार-निर्माण का कार्य प्रारभ से ही होना चाहिए । बचपन मे ही अच्छे सस्कार दृढ किये जाए । जो सस्कार बालक बचपन मे ग्रहण करता है, उन्हे बडे होने पर बदलना मुश्किल हो जाता है । अतः सच्ची शिक्षा का प्रारभ बचपन से ही होना चाहिए । आचार्यश्री के शब्दो मे[2]—

जो शिक्षा सुसंस्कार उत्पन्न नही करती उसे सुशिक्षा नही कह सकते । आज की शिक्षा प्रणाली मे मस्तिष्क के विकास की ओर ध्यान दिया जाता है, हृदय को विकसित करने की ओर लक्ष्य नही दिया जाता । यह एक ऐसी त्रुटि है जिसके कारण जगत् स्वार्थ-लोलुपता का अखाडा बन गया है ।

माता-पिता के, शिक्षक के और धर्म शिक्षक के जो सस्कार बाल्यावस्था मे

१—धर्म और धर्मनायक, पृ० २४६

२—पाण्डव चरित, पृ० १८

बालक में दृढ हो जाते हैं, वे बड़ी उम्र में दृढ नही होते । वालक प्रतिक्षण किसी न किसी प्रकार के सस्कार अपनाता रहता है । उसका हृदय दर्पण के समान है, जिस पर सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती ही है । ऐसी अव-स्था मे हम अगर वालक का हृदय अभीष्ट संस्कारों से युक्त न बनाएगे तो वह 'अनभीष्ट' सस्कारो को ग्रहण करेगा । बडी उम्र में अगर वे अनभीष्ट-अवाछनीय संस्कार दृढ हो गये तो उन्हें दूर करके नये वाछनीय सस्कारो का आरोपण करना अत्यन्त कठिन होगा । उस हालत में दोहरा परिश्रम करना पडेगा। प्रथम तो पुराने संस्कारो का जो बद्धमूल हो चुके है, उन्मूलन करना, फिर नवीन संस्कारो का बीज बोकर उनका सिंचन करना, पनपाना और अकुरित करना। अगर पुरातन अवाछनीय संस्कारो की जड गहरी चली गई हो तो उन्हे जड से उखाड फेकना अशक्य हो जाता है । उस हालत मे माता-पिता पश्चात्ताप करते हैं, झल्लाते है, अपने भाग्य को कोसते है और अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं । अतएव दूरदर्शी मां-बाप और शिक्षक को उचित है कि वह बालक मे बचपन से ही धार्मिक सस्कारो का बीज बो दे । वचपन मे वोये हुए

संस्कार वडी उम्र में सुदृढ हो जाएगे और फिर कुसस्कारो को बालक के हृदय मे स्थान न मिलेगा।"

यह संस्कार निर्माण ही दूसरे शब्दो मे चरित्र-निर्माण है। खेद है आधुनिक शिक्षा पद्धति मे शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण व प्राथमिक उद्देश्य का विस्मरण कर दिया गया है। आज हम शिक्षा देते हैं, शिक्षा के नाम पर छात्र को थोथा अव्यावहारिक ज्ञान देते है। सिद्धान्त रटा देना चाहते हैं, उन पर अमल करने की वात की उपेक्षा करते है। विद्यार्थी चरित्रवान वने, उसमे मानवीय गुण विकसित हो, विनम्रता आवे, बडो के प्रति, मातृभूमि के प्रति, देश धर्म साहित्य और सस्कृति के प्रति आदर भाव पैदा हो—यह सव जैसे आज की शिक्षा की दृष्टि मे निरर्थक बाते हैं, गौण हैं। परिणाम स्पष्ट है। आज विद्यार्थी अपने गुरुजनो की खिल्लो उडाता है। उनसे अपमानजनक व्यवहार करता हैं। देश की सास्कृतिक परम्परा और परम्परागत साहित्य से उसे वितृष्णा है। सास्कृतिक मूल्य धराशायी होकर रह गए हैं। संस्कार के नाम पर वह अंग्रेजी कविता बोलना, अंग्रेजी नकल के नृत्य करना, गन्दे फिल्मी गानो की नकल उतारना, मात्र

अपने स्वार्थ साधन की बात सोचना ही सीख पाया है। उसका व्यवहार मात्र व्यक्तिगत स्तर पर अपने लिए अधिकाधिक लाभ उपार्जन करना है, परस्पर प्रेम सौहार्द सहानुभूति समूहगत अनुशासन आदि की उससे अपेक्षा करना दिन प्रति दिन व्यर्थ होता जा रहा है। शिक्षा के इस दोप का निराकरण चारित्र्य की, शील की, सदाचार की शिक्षा देने से ही हो सकता है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम ज्ञान देने के साथ-साथ शिक्षार्थी के चरित्र को उज्ज्वल बनाने की ओर ध्यान दे। आचार्यश्री के इस सम्बन्ध मे विचार है—

"आज की शिक्षा का लक्ष्य विद्वान बना देना भर है। चारित्रशीलता से उसे कोई सरोकार नही। ज्ञान मे ही जीवन की कृतार्थता समझी जाती है, मगर जीवन के वास्तविक उत्कर्ष के लिए उच्च और उज्ज्वल चरित्र की आवश्यकता है। चारित्र के अभाव मे जीवन की सस्कृति अधूरी ही नही, शून्य रूप है।[1]

सच्ची शिक्षा वही है जिससे ज्ञान और चारित्र्य

१—चिन्तन, मनन, अनुशीलन पृ० ७७

दोनो की प्राप्ति होती है । चारित्र्य और ज्ञान से सम्पन्न नागरिक किसी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा है । अत' शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान-दान के साथ-साथ चारित्र-निर्माण भी होना चाहिए । मानव-मुक्ति को लक्ष्य मे रखकर चलने वाली शिक्षा पद्धति के ये दोनो आवश्यक अग हैं । आचार्यश्री ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए एक स्थान पर कहा है—'कल्याण को अगर रथ मान लिया जाय तो ज्ञान और चारित्र उसके दो पहिये हैं ।'[१] ज्ञान और चारित्र परस्पर पूरक हैं । ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र की आराधना नही हो सकती और इसी प्रकार चारित्र सम्पन्नता के अभाव मे थोथा ज्ञान निरर्थक बोझ मात्र है । इस सम्बन्ध मे आचार्यश्री के विचार है[२]—

ससार की समस्त शिक्षाओं का सार ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति करना है । चारित्र को आचरण भी कहते हैं, मगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनो मे थोडा-सा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है । चरित्र रूप गुणो की आराधना करने

१—चिन्तन, मनन, अनुशीलन पृ० ७३

२—वही, पृ० ७३

की जो विधि बतलाई गई है उस विधि के अनुसार चारित्र का पालन करना आचरण कहलाता है। विधिपूर्वक चारित्र का पालन न करने से काम नही चलता। विधिपूर्वक चारित्र के पालन करने का अर्थ यह है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान के साथ पाला जाने वाला आचार ही उत्तम आचार है। वही आचार सफल होता है। ज्ञानहीन आचरण और आचरणहीन ज्ञान से उद्देश्य सिद्ध नही होता।

शास्त्र मे चारित्र की बडी महिमा प्रकट की गई है। लेकिन अगर कोई कोरी क्रिया को ही पकड कर बैठ जाय और क्रिया ज्ञानयुक्त न हो तो जैसे अन्धे और पगु के सहयोग के बिना फल की प्राप्ति नही होती, उसी प्रकार ज्ञान के सयोग के बिना की जाने वाली क्रिया से भी फल की प्राप्ति नही होती। इसीलिये कहा गया है—

पढमं नाण तओ दया एव चिट्ठइ सव्वसजए।

अर्थात्-पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसके बाद चारित्र की आराधना हो सकती है। सभी सयमवान् महापुरुष ऐसा ही करते

हैं। वे विना ज्ञान के चारित्र की आराधना करना सभव नही मानते। इस प्रकार चारित्र की आराधना करने से पहले ज्ञान की आराधना करना आवश्यक बतलाया गया है। वास्तव मे ज्ञान के विना सम्यक् चारित्र की आराधना हो ही नही सकती।

ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न, सच्ची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति के लिये मुक्ति का पथ सदैव प्रशस्त है। उपनिषद् का कथन है कि ज्ञानी पुरुष स्वय ब्रह्मरूप हो जाता है।[1] अत. सच्ची शिक्षा का उद्देश व्यक्ति मे सुषुप्त परमात्म तत्त्व को जागृत करना है, उसे मोक्ष मार्ग का पथिक वनाना है। अतः सच्ची शिक्षा व्यक्ति की आत्मा का प्रसार करती है। उसे एक से अनेक बनाती है। सबका सुख-दुख उसका सुख-दुख बन जाता है। वह सभी मे—प्राणीमात्र मे उसी एक आत्मतत्त्व का स्पन्दन अनुभव करता है। उसका हृदय स्नेह और सहानुभूति का अजस्र झरना वन जाता है। उसका अन्त करण विश्ववन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। सच्ची शिक्षा के इसी लक्ष्य की ध्वनि आचार्य श्री के निम्न कथन से

१—वृहदारण्यक, ४।४।६

उद्भावित होती है—

"शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे गरीवो का हित हो, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समझे, उसे विकसित करे और धीरे-धीरे उसका दायरा विशाल से विशालतर होता चला जाय। शिक्षा का फल यह नही है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति निर्वलो, अशिक्षितों और गरीवो का भार रूप वने, अपनी विलासिता की वृत्ति में वृद्धि करके दूसरो को चूसे। जिस शिक्षा की वदौलत गरीवो के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जागृत होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की ज्योति अन्त करण मे जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।"

शिक्षा का परम उद्देश्य मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना है। अन्य सभी उद्देश्य यथा, ज्ञान-प्राप्ति, चरित्र-निर्माण, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास-शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि का साधन इसी मे अन्तर्निहित है। मुक्ति मार्ग का पथिक वनने के लिए व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास अपरिहार्य है। इस उद्देश्य की दृष्टि से वात धार्मिक शिक्षा पर आकर टिकती है। यहा यह स्पष्ट कर देना

आवश्यक है कि धार्मिक शिक्षा से तात्पर्य किसी सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा देने से नहीं है। धर्म से तात्पर्य है आत्मा का धर्म, आत्मा का स्वभाव। आत्मा का स्वभाव है आनन्द, परम शान्ति; मुक्ति, जीवन मे क्लेश, व्याकुलता, दु:ख से मुक्त होना और शाति, सन्तोष सुख को प्राप्त करना। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति को भौतिकता मे आसक्ति से निवृत्ति की शिक्षा मिले। भौतिकता की आसक्त प्रवृत्ति का मार्ग दुख का मार्ग है। आदमी जितना-जितना बन्धन मे वन्धता है क्लेश उत्पन्न होता है, आत्मा को कष्ट पहुचता है, उसे दुख मिलता है। मानापमान, ईर्ष्या-द्वेष, अहंदभ, धन-दौलत, पद-परिवार ये सव उसे बाधते हैं, फलत दु ख के कारण बनते हैं। अत आवश्यक है कि अगर जीवन को सुखी और सही अर्थों में समृद्ध वनाना है तो हम बचपन से ही ऐसी शिक्षा दे जो वालक को त्याग का, सेवा का, परस्पर प्रेम का, साहचर्य का, परोपकार का, मोह तथा ममता से मुक्ति का पाठ पढावे और उसकी वृत्ति को निवृत्ति की ओर ले जाए। आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा जब वालको को धर्म की शिक्षा देने की वात करते, तो उनका यही तात्पर्य होता। उन्होने

कहा है—

बालकों का भावी जीवन सुखी बनाने के लिये व्यावहारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कही अधिक आवश्यकता धार्मिक शिक्षा की भी है। इसका कारण यह है कि जीवन में शुभ प्रवृत्ति को जितना स्थान है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अशुभ से निवृत्ति को प्राप्त है। जीवन का अंतिम ध्येय परिपूर्ण निवृत्ति है। भौतिकता मे प्रवृत्ति क्लेश एव व्याकुलता को जन्म देती है, निवृत्ति से निराकुलता, संतोप, शाति और एक प्रकार के अनुभवगम्य सुख की उपलब्धि होती है। अतएव निवृत्तिधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिये बालकों को धर्मशिक्षको के समीप जाना चाहिये। बचपन मे धर्मोपदेश सुनने से निवृत्ति-शिक्षा का अपार ज्ञान प्राप्त होता है।

२. वर्तमान शिक्षा

आचार्य श्री जवाहरलाल जी जब लोगो को धर्म की जागृति का उपदेश दे रहे थे तब देश परतन्त्र था और अपनी स्वतन्त्रता के लिए सघर्परत था। अंग्रेजो द्वारा प्रचारित शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य था-पढे लिखे भारतीयों की गुलाम पीढी

तैयार करना, शिक्षित भारतीयो का ऐसा वर्ग तैयार करना जो सिर्फ चमडी से ही भारतीय रहे अन्यथा संस्कार, सभ्यता तौर तरीको और मानसिकता सभी दृष्टियो से अग्र ेजीयत की अन्धी नकल करने वाला, अग्रेज अग्रेजी और अग्रेजी शासन का पक्का दास हो। अंग्रेजो ने भारत मे शिक्षा की जिस रीति-नीति को जन्म दिया, वह अद्भुत रूप से अत्यधिक सफल रही और उसका प्रभाव आज स्वतन्त्रता की एक चौथाई शताब्दी बीत जाने के बाद भी देखा जा सकता है।

आचार्य श्री ने तत्कालीन शिक्षा पद्धति की जिन बुराइयो को देखा, उन्होने उसके विरुद्ध आवाज उठाई और जनमानस को आगाह किया। उन्होने तत्कालीन शिक्षा की जिन बुराइयो की ओर बार-बार संकेत किया, उसके आधार पर शिक्षा के निम्न दोष गिनाए जा सकते है—

१ भावी पीढी को तन-मन से दास बना देने वाली शिक्षा।

२ पूर्णत' व्यक्तिवादी शिक्षा पद्धति व्यक्ति को अपना तथा अपने परिवार का स्वार्थ-पोषण ही

सिखाती है । समाज, राष्ट्र, विश्व अथवा मानवता के लाभार्थ काम करने की उसकी भावना को ही समाप्त कर देती है ।

३. अराष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा और उसके साहित्य के प्रति अवमानना की भावना उत्पन्न करती है ।

४. पढे लिखे भारतीयो को बेरोजगार बना देने वाली तथा उनके जीवन मे निरुत्साह, आलस्य, कामचोरी की भावना को पनपाने वाली ।

प्रचलित शिक्षा पद्धति के उक्त दोषो को दर्शाने वाले उनके उस समय व्यक्त किये गये कतिपय उद्गार यहा प्रस्तुत किए जा रहे है—

भारत मे जो शिक्षा दी जाती है, वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नही रहते । वे गुलामी के लिए तैयार किये जाते है और गुलामी मे ही अपने दिन व्यतीत करते हैं । उनका अपनापन अपने तक या अधिक से अधिक अपने संकीर्ण परिवार तक ही सीमित रहता है । उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क मे प्राय: कभी आती ही नही है । वे अपने को समाज

का अंग मानकर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एवं समाज के अमगल में अपना अमगल नही मानते। समाज मे व्यक्ति का वही स्थान है जो जलाशय मे एक जल-कण का होता है। जल कण जलाशय से अपने आपको भिन्न माने तो क्या यह ठीक है ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगो से विश्वसेवा की आशा ही क्या की जा सकती है ?

'भावी प्रजा मे स्वदेश के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न करने वाली शिक्षा प्रणाली ही ग्राह्य होनी चाहिए। देश-देशान्तरो का इतिहास तो रटाया जाय पर अपने देश का और अपने गाव का ठीक ठीक पता ही न हो, यह शिक्षा प्रणाली का दूषण है। सच्ची शिक्षा वही है जिससे राष्ट्रीय हित का साधन हो। शिक्षा के ऊपर ही राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्टीय हित मे कोई सहायता नही मिलती, वह भी कोई शिक्षा है ?'

'आज भारतवर्ष की शिक्षा प्रणाली ऐसी

दोषपूर्ण है कि वह राष्ट्रीय भावना का विनाश कर देती है। शिक्षण-शालाओं के अधिकारियो की इच्छा भी यही रहती है कि देश की भावी प्रजा विदेशी जीवन व्यतीत करे और उसमे राष्ट्रीय भावना पनपने न पावे। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे ऐसी शिक्षा प्रणाली की योजना करते है, जो राष्ट्रीयता का पोषण न करे वरन् परदेश के प्रति गौरव का भाव ही विद्यार्थियों के हृदय में उत्पन्न करे। सचमुच राष्ट्र के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जो लोग भविष्य मे देश के भाग्य विधाता बनने वाले है, उन्हे राष्ट्रीयता की भावना से कोरा रखना, देश के प्रति कितना बड़ा अन्याय है ? वह शिक्षा ही नही है। वह तो भावी प्रजा को गुलामी की बेड़ी मे जकड़ने के लिए फंदा है। इस फदे को काट फेकना प्रशास्ता का काम है। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरो तले दबाये रखना चाहते है वे भला प्रजा को राष्ट्रीयता की शिक्षा क्यो देने लगे ? ये लोग जिस ध्येय से भारत मे आये हैं, उसकी पूर्ति के लिए गुलाम बनाने वाली शिक्षा पद्धति जारी करे, यह स्वभाविक है, पर प्रशास्ताओ को सचेत होना चाहिए।'

'एक जमाना था जब समग्र भारतवर्ष में

प्रजा को राष्ट्रीय शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण राष्ट्र का मस्तक ऊंचा रहता था। जनता भी सुख-शान्ति मे रहती थी।

प्रचलित शिक्षा-प्रणाली मे परिवर्तन करके जब तक राष्ट्रीय पद्धति द्वारा इसको शिक्षित-दीक्षित न किया जायगा, तब तक राष्ट्र के कल्याण की क्या आशा की जा सकती है? मगर यह तब हो सकता है जब राष्ट्र का शिक्षा-विभाग प्रशास्ता स्थविर के हाथो मे सौंप दिया जाय और उसी की सूचनाओ के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षा-विभाग जब राष्ट्र के सूत्रधारो के हाथ मे आएगा तभी हमारी अगली पीढी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्त्व और प्रचलित शिक्षा पद्धति की बुराइया समझ सकेगी। तब प्रशास्ता स्थविरो की प्रेरणा से भावी प्रजा राष्ट्रोद्धार के कार्य मे जुटेगी और राष्ट्र का मुख उज्ज्वल होगा।'

भारत के कोने-कोने मे आज बेकारी का भूत भारतीयो को भयभीत कर रहा है, उसका मुख्य कारण आज की दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली ही है। आज भारत के जीवन-धन युवक का हृदय पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के फेर मे पडकर नेस्तनाबूद हो

रहा है । आज का नौजवान जिसमें गर्म खून, असीम उत्साह और स्फूर्ति होनी चाहिए, निर्बल, निस्तेज, साहसहीन, अकर्मण्य, हतोत्साह और निराश नजर आता है । इसका कारण आज की दूषित शिक्षा प्रणाली के अतिरिक्त और क्या है ? 'प्राचीनकाल मे भारत में शारीरिक, मानसिक, औद्योगिक सगीत वाद्य आदि बहत्तर कलाओ की शिक्षा दी जाती थी और इन कलाओ में कुशल मनुष्य ही शिक्षित माना जाता था । जिसने बहत्तर कलाए सीखी होंगी, वह क्या कभी धन के लिए दूसरों का मुंह ताकेगा ? क्या वह नौकरी के लिए दर-दर भटकता फिरेगा ? बहत्तर कलाओ का पंडित स्वतन्त्र व्यवसाय करता है । कला-शिक्षण से उसका दिल दिमाग ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी की नौकरी या गुलामी नही कर सकता । कलाविद् का मानस सदा स्वाधीन होता है । वह किसी का वशवर्त्ती होकर नही जी सकता । आज का एम. ए. भले ही समस्त कलाओ का अधिपति गिना जाता है पर वास्तव मे वह एक भी कला का पूर्ण पडित नही होता । हा, वह कला की विवेचना करने मे एक बडा सा पोथा रच सकता है परन्तु उसके जीवन मे 'कला' का स्पर्श तक नही होने

पाता । यही कारण है कि वह कलाओं का मास्टर पचास-साठ रुपया मासिक की कमाई के लिए दर-दर भटकता है । सच तो यह है कि आजकल कला की शिक्षा दी ही नही जाती, केवल गुलामी की शिक्षा दी जाती है । 'गुलामी-शिक्षा के वदले कला की शिक्षा का प्रवन्ध करना प्रशास्ता स्थविर का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य है । महात्मा गाधी के निदेशन मे हमारे यहां राष्ट्रीय विद्यापीठो की जो व्यवस्था की गई थी, वह शिक्षा के क्षेत्र मे एक वहुमूल्य कदम था, यद्यपि उसमे भी कई एक सुधारो को अवकाश था । खेद है कि अव उस ओर उतना अधिक ध्यान नही दिया जा रहा है । स्वतत्र भारत शिक्षा पद्धति मे आमूल सुधार करेगा ।'

अंग्रेजी भाषा की शिक्षा

दूरदर्शी, स्वाभिमानी तथा स्वधर्म, स्वभाषा, स्वराष्ट्र की विचारधारा के समर्थक आचार्य श्री ने अग्रेजी भाषा की शिक्षा के विवादास्पद विषय पर अपने वडे ही स्पष्ट विचार प्रकट किए हैं । अग्रेजी भाषा तथा साहित्य की शिक्षा क्या अनिवार्य रूप से दी जाए? यदि दी जाए तो किस स्तर

से इसका प्रारंभ किया जाए ? इस शिक्षा के गुण-दोष क्या हैं ? क्या शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा की अपेक्षा अंग्रेजी रहे, आदि कुछ ऐसे प्रश्न है जो लगभग एक शताब्दी से भारतीय जनमन को उद्वेलित करते रहे हैं। इन पर अनेक विध विचार हुआ है और लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इन प्रश्नों पर विविध विचार प्रकट किए है और आज भी यह एक विवादास्पद विषय है।

आचार्य श्री अंग्रेजी-शिक्षा के विरोधी नहीं थे, परन्तु उनका कहना था कि यह शिक्षा हम बालकों को तभी दे, जब उनमें स्वभाषा, स्वजाति, स्वराज्य, स्वधर्म, स्वदेशी और स्वकर्म के संस्कार दृढ हो जाएं। तात्पर्य यह कि हम पहले अपनी भाषा, अपना साहित्य, अपने सस्कार तथा स्वाभिमान का पाठ बालकों को ठीक तरह पढा दे और जब वे अपना भला बुरा ठीक तरह समझने के योग्य हो जाए, उनमे विचारगत प्रौढ़ता आ जाए, फ़िर चाहे वह अंग्रेजी भाषा और साहित्य पढे या कोई अन्य भाषा और उसके साहित्य का ज्ञान प्राप्त करे। जिस प्रकार आज भारत के विभिन्न विश्व-विद्यालयो मे फ्रेंच, जरमैनिक, रूसी, चीनी आदि अनेक

भाषाओ के पठन-पाठन की व्यवस्था है और इसमे प्रवेश के लिए विद्यार्थी की न्यूनतम योग्यता उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्राप्त होना आवश्यक है, ठीक वही विधि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के पठन-पाठन की हो सकती है। हम जो कोमलमति बालको पर अंग्रेजी थोप रहे हैं, अंग्रेजी के माध्यम से उनको दैनन्दिन ज्ञान की बातें सिखाना चाह रहे हैं और इस प्रकार उन्हे परावलम्वी, रट्टू तथा नकलची बनाने का आयोजन करते रहे हैं। आचार्य श्री इस पद्धति के घोर विरोधी थे। उनका यह निश्चित विचार था कि यदि शिक्षा मे अंग्रेजी को स्थान देना ही हो तो जितनी अधिक देर करके दिया जाए, वही अधिक शुभ और श्रेयस्कर है। अंग्रेजी शिक्षा की कतिपय बुराइयाँ उनकी दृष्टि में निम्न प्रकार हैं—

(अ) आवश्यकताओ को बढ़ाने तथा रहन-सहन को खर्चीला बनाने वाली शिक्षा। सादा जीवन उच्च-विचार की भावना से दूर।

(ब) अपने समाज, अपनी भाषा और साहित्य के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करने वाली शिक्षा।

(स) अपनी भाषा के साहित्य का विकास

के समान स्पष्ट होने पर भी हम उन्हे नही देख सकते, यह ही इस शिक्षा का प्रभाव है !'

यहा आचार्य श्री के अग्रेजी भाषा की शिक्षा से सम्बन्धित विचारो को उद्धृत किया जा रहा है। पाठक इन्हे पढकर इस सम्बन्ध मे उनके विचारो को अच्छी प्रकार जान सकेंगे—

मेरे विचार अग्रेजी भाषा की शिक्षा के विषय मे यह है कि यदि मेरे आज्ञानुवर्ती मुनियो को स्वकीय सिद्धात का अभ्यास कर लेने के पश्चात् अवकाश और सुविधा मिले तो अग्रेजी भाषा-भाषी लोगो को जैनधर्म के सिद्धात समझाने के उद्देश्य से मैं उन्हे भी अग्रेजी पढाऊ। भाषा स्त्री के समान है। स्त्री से द्वेष करो या भाषा से द्वेष करो, एक ही वात है। जैसे स्त्री-स्त्री एक है उसी प्रकार भाषा-भाषा भी एक है। यद्यपि समस्त स्त्रिया स्त्रीत्व जाति की अपेक्षा से एक हैं, लेकिन स्त्रियो मे मां भी होती है, वहिन भी होती है और अन्य स्त्रिया भी होती हैं। अगर कोई वालक अपनी माता से, अन्य स्त्रियो की अपेक्षा अधिक प्रेम करता है तो क्या वह कोई अन्याय करता है ? अन्य स्त्रियो की अपेक्षा अपनी माता को विशेष पूजनीया

मानना क्या कोई दोष है ?

'नही ।'

कल्पना कीजिए, उस बालक की माता को दो स्त्रिया मिली । एक बालक की माता की सखी बनने वाली है, मा का गौरव बढाने वाली है और उसकी सेवा करने वाली है । दूसरी स्त्री बालक की माता को दासी बनाना चाहती है । मातृभक्त बालक ऐसी स्त्री को, जो उसकी माता को दासी बनाना चाहती है, अवश्यमेव दुत्कारेगा और जो स्त्री माता की सखी बनना चाहती है, उसे चाहेगा । यह मनुष्य की प्रकृति है ।

जो बात स्त्री के विषय मे कही गई है, वही भाषा के विषय मे समझनी चाहिए । अग्रेजी, उर्दू, सस्कृत, अरबी, फारसी, लेटिन, फ्रेंच, जर्मन आदि कोई भी भाषा क्यो न हो, वह स्त्री के समान है । बालक को जिस भाषा मे मा ने बोलना सिखाया है, जिस भाषा के तोतले बोल बोलकर बालक ने अपनी माता की कली कली खिला दी है, जिस भाषा मे बालक ने अपनी नानी की कहानी सुनी है, जिस भाषा के भडार मे बालक की सास्कृतिक धरोहर रखी हुई है, जिस भाषा मे बालक के पूजनीय

पूर्वजो के विचारो का अनमोल खजाना छिपा हुआ है, जिस देश ने वालक को जन्म दिया है उस देश की जो स्वभावसिद्ध भापा है, वही उसकी मातृभाषा है। मातृभाषा के द्वारा वालक ने अपनी माता का प्यार पाया है। ऐसी स्थिति मे वालक अपनी मातृ-भापा से स्वभावत अधिक प्रेम करता है। मगर वह दूसरी भाषा से द्वेष या घृणा नही करता और अपनी मातृभाषा के प्रति भक्ति-भाव रखता है तो कौन ऐसे सपूत वालक को कपूत कहने की हिम्मत करता है ?

इस मातृभापा को अगर कोई दूसरी भाषा सम्मानित करती है, अथवा उसकी सखी बनना चाहती है, तो मातृभक्त वालक उसका भी सम्मान करेगा, मगर जो भापा मातृभाषा को दासी वनाने के लिए उद्यत हो रही हो, उसके प्रति वालक का क्या कर्त्तव्य है ? अपनी माता की इज्जत वढाने वाली स्त्री का तो वालक आदर कर सकता है, लेकिन जो स्त्री, माता को तुच्छ वता कर कहती है—'तू हमारी गुलामी करने योग्य है', क्या ऐसी स्त्री को सम्मान देना वालक के लिए योग्य है ?

हमारी मातृभापा को-आर्य देश की भापा को

जो भाषा दासी बनाती है, जो हमारी मातृभाषा का तिरस्कार करने आई हो, जिसके आगमन से हमारी संस्कृति विकृत होती हो, जिस भाषा की शिक्षा से अपने देश की संस्कृति के प्रति घृणाभाव उत्पन्न होता हो, बल्कि जिस भाषा की शिक्षा देश के लिए घातक सिद्ध होती हो, आर्य-संस्कार और पूर्वजो की प्रतिष्ठा को मलिन बनाना जिस भाषा के आगमन का उद्देश्य हो, ऐसी भाषा की शिक्षा का मैं विरोधी हूँ, चाहे वह अग्रेजी भाषा हो, चाहे कोई दूसरी। उस भाषा से मैं अपने विरोध की घोषणा करता हूँ।

जो भाषा हमारी मातृभाषा को अपनी सखी बनाती है, जो उसकी सेवा बजाती है, उस भाषा को, अपनी संस्कृति दूसरों को समझाने के लिए सीखा जाये, इस विचार का समर्थन करने के लिए मैं तैयार हूँ। ऐसा करने से आर्यभूमि का गौरव बढ़ेगा। ऐसी भाषा सीख कर अर्हन्त भगवान् के द्वारा विश्व-कल्याण के लिए प्रतिपादित सन्मार्ग के प्रचार करने और उसकी महिमा समझाने का मैं विरोधी नही हूँ।

जिस भाषा के सस्कारों से संस्कृत होकर लोग

अपनी मातृभाषा की अवहेलना करने लगते हैं, जिस भाषा मे हमारी मातृभाषा को 'गुलामो की भाषा' नाम दिया गया हो, उस भाषा का अथवा उस भाषा के उन शब्दो का अथवा उसकी शिक्षा-प्रणाली का जिसमे वह दोष हो, विरोध करना हमारा कर्त्तव्य है।

अग्रेजी शिक्षा के माने है–प्रोटेस्टेण्ट शिक्षा। अंग्रेजी शिक्षा का अर्थ है, पारलौकिक जीवन के विषय मे लापरवाह रहने का उपदेश करने वाली शिक्षा। अग्रेजी शिक्षा को प्राप्त करने वाला मनुष्य शायद ही दया करने, ममता रखने तथा मनुष्यता का विकास करने का विचार करता है। उसकी जबान पर तो जीवन-कलह, हक, न्याय, आर्थिक दृष्टि से लाभकारी, प्राकृतिक नियम इत्यादि शब्द ही रहते हैं। अग्रेजी शिक्षा हमे कुटुम्बधर्म भूलाकर शिकार-धर्म सिखलाती है।

कोई-कोई कहते हैं कि कौन आपको मजबूर करता है कि आप अमुक ही प्रकार के विचार रखो, यह भी कैसे कहा जाये कि अग्रेजी साहित्य मे उच्च विचार हो नही हैं? बात सच है। जबरदस्ती नही है किन्तु मायाजाल है और उच्च विचार किस

साहित्य में नहीं हैं ? पर प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि के सम्मुख आदर्श कौनसा रखा जाता है ? अश्लील नाटकों में भी बोधवचन तो मिल ही जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव नहीं पडता, बल्कि विलासी और हीन वृत्ति बनने की प्रवृत्ति होती है । यह उपमा शायद अधिक कठोर होगी । कहने का उद्देश्य इतना ही है कि जिन लोगो की भाषा के द्वारा शिक्षा के प्रथम संस्कार हम लेते है, उनके स्वभाव का असर हमारे ऊपर पडे बिना नहीं रह सकता । बालकों की शिक्षा अपनी ही भाषा द्वारा होने से अपनी संस्कृति के गुणदोष बच्चो में उतरते हैं और यदि शिक्षा की पद्धति सरल और सादी हों, तो नयी पीढी उसमें से उन्नति के अश खोज सकती है । परदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से परकीय लोगो के गुणदोष की छाप पडे बिना नही रह सकती और दूसरो के गुणो को हजम करना कठिन होने के कारण कई वार उनके दोषो का ही अनुकरण होता है । इस तरह सारी चित्तवृत्ति ही भ्रष्ट हो जाती है, सो अलग ।

हमने जो अंग्रेजो शिक्षा ग्रहण करना आरंभ किया, वह कुछ अंग्रेजो के धर्म अथवा समाज रचना विषयक आदर के कारण नही, वल्कि खास

कर सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लालच से और कुछ अंश मे स्वच्छन्दता करने के विचार से । इसके बाद अंग्रेजो ने कहा कि हिन्दुस्तान की समाज-रचना से योरप की समाज रचना श्रेष्ठ है। अंग्रेज इस देश के राज्यकर्त्ता हुए, इसीलिए हमने उनका दावा स्वीकार किया । देश परदेश विषयक ज्ञान मे और भौतिक शास्त्रो मे उनकी प्रगति को देखकर हमारा निश्चय हुआ कि अंग्रेज हम लोगो की अपेक्षा अधिक होशियार है, किन्तु होशियार के मानी सुधरे हुए नही, होशियार के मानी धर्मनिष्ठ नही । यदि हम लोगो मे धर्म-तेज ही होता, तो भी हम अंग्रेजो से चौंधिया नही जाते । किन्तु दुर्दैववश उस विषय मे हमारे देश मे आधी रात थी, इसलिए सभी तरह अंग्रेजी शिक्षा के फैलाव के लिए वह अनुकूल समय था ।

अब अंग्रेजी शिक्षा के कारण हममे कौन से परिवर्तन हुए हैं, यह देखना चाहिए ।

सबसे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि अपनी आवश्यकताओ को बढाने और रहन-सहन को खर्चीला कर देने मे कोई दोप नही वरन् उलटा समाजहित ही है । इसके कारण

परदेशी व्यापार बढा और हमारी द्रव्य की थैली में अनेक छेद हो गये ।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि हमारे दिल मे अपने समाज के संबंध मे तिरस्कार उत्पन्न हुआ, इसी के परिणामस्वरूप हम समाज की सहायता की अपेक्षा पैसे की सहायता से सभी काम चलाने की सुविधा खोजने लगे और दिन-दिन समाज मे रहने वाले लोगो का परस्पर सबध टूटता गया ।

तीसरा परिवर्तन यह हुआ कि पढा-लिखा मनुष्य अपनी साहित्य संबंधी भूख और प्यास को अंग्रेजी साहित्य के द्वारा ही मिटाने लगा । इससे निज भाषा का साहित्य ताक मे रखा रह गया । जहा इसका अध्ययन भी न हो, वहा उसमे वृद्धि तो हो ही कैसे सकती है ?

चौथा परिवर्तन यह हुआ कि हम अंग्रेजी पढने वाले मनुष्यो को ही श्रेष्ठ समझ कर उन्ही से वाहीवाही लेने को आतुर हो उठे और अपने लेख अंग्रेजी ही मे लिखने लगे । हिन्दुस्तान के शिक्षित समुदाय ने सस्कृत और देशी भाषा की पुस्तको का अंग्रेजी मे अनुवाद करके अंग्रेजी भाषा के घर मे

थोडी गुलामी नही की। हिन्दुस्तान को जीतने वाली जाति को हमारा दिया हुआ यह कर वहुत ही भारी है।

हमने अपनी राजनैतिक हलचल भी अग्रेजो भापा ही मे चलाई, जिससे राज्यकर्त्ता को उत्तम शिक्षा और राज्यकार्य सचालन दक्षता भी प्राप्त हुई। उस परिणाम मे हम लोगो को स्वराज्य की कुछ भी शिक्षा नही मिली।

अग्रेजी जानने वालो की एक न्यारी ही जाति हो गई है। वे अग्रेजी न जानने वाले राष्ट्र के साथ समभाव नही रखते, उनके विचारो को समझ नही सकते और उनके प्रति कुछ तुच्छ भाव रखना सीखते हैं।

अग्रेजी शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वध्या सावित होता है। वह न तो देशी भापा द्वारा दिया जा सकता है, न जीवन मे अच्छी तरह उतर ही सकता है। हमारे पुराने सस्कारो के साथ उसका मेल नही वैठता और इसलिए पुराना सव मिटा कर उस जगह पाश्चात्य सृष्टि की एक नकल खड़ी कर देने का वह प्रयत्न करता है। दो

ही पीढ़ियो के भीतर, सारे राष्ट्र को संस्कृति की दृष्टि से दिवालिया और भिखारी बना देने का सामर्थ्य इस शिक्षा ने प्रकट किया है।

अंग्रेजी शिक्षा से जीवन मे स्वच्छन्दता का तत्त्व इतना घुस गया है कि समाज मे से विवेक और कला दोनो लुप्त हो गये है। मानसिक और नैतिक दुर्बलता पर मनुष्य को जो लज्जा मालूम होनी चाहिए, वह भी जाती रही और ज्यों ज्यो स्वच्छन्दता प्रबल होती जाती है, त्यो-त्यो नैतिक आदर्श को नीचे खीचने की ओर पढे-लिखे मनुष्यो का झुकाव दिखाई देता है। हमने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भौतिक शास्त्रो मे कोई भारी वृद्धि नही की। इस भारी संस्कारी देश के परिमाण मे हमने ऐसा भारी साहित्य भी उत्पन्न नही किया, जिससे संसार मे कृतज्ञता उत्पन्न हो।

परदेश जाना सारे राष्ट्र का उद्देश्य कभी नही हो सकता। हजार मे एक-आध मनुष्य ही शायद परदेश को जाता होगा। उसके लिए सारी शिक्षा का आधार अंग्रेजी भाषा पर रचने के समान दूसरा और पागलपन क्या हो सकता है?

अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए सामान्य मनुष्य अंग्रेजी राज्य का चाहे कितना ही द्वेष करते हो, परन्तु अपने आचरण के द्वारा वे अंग्रेजी राज्य को सहारा ही देते हैं। स्वराज्य की हलचल मे जिन तीक्ष्ण उपायो का अवलम्बन करना जरूरी है और राष्ट्रीय दृष्टि मे जो परिवर्तन करना उचित है, उसमे ये अंग्रेजी पढे मनुष्य ही विघ्न रूप हो जाते हैं। पानी के बाहर जो दशा मछली की होती है, वही दशा इन लोगो की अंग्रेजी शिक्षा के वातावरण बिना हो जाती है।

अंग्रेजी शिक्षा ही के कारण हिन्दुस्तान का राज्य-तन्त्र अंग्रेजी भाषा मे चल सकता है और उससे प्रजा पर अधिक अत्याचार होता है और प्रजा को भी यह चुपचाप सहन करना पडता है।

अमेरिका का कोई भी मनुष्य जब अपने कुटुम्ब का इतिहास लिखने लगता है तो उसे अपने कुटुम्ब का मूल पुरुष यूरोप मे खोजना पडता है। हमारे अंग्रेजी पढे मनुष्य भी जब कभी किसी विषय पर विचार अथवा विवेचन करते हैं, तब उन्हे सर्वदा यूरोप की परम्परा, वहा के मनुष्य और वहा की दलीलो को बतौर प्रमाण के लेने की

आदत पडी होती है । इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपनी विरासत को छोडकर दूसरे की विरासत पर प्रतिष्ठित होना चाहते है । यह भी वर्ण-संकरता के समान भारी संकट है ।

इतनी सब हानि होते हुए भी हम अंग्रेजी पढते हैं । किस लोभ से ? इतने ही के लिए कि कुछ कमाई अधिक हो और राजदरबार मे अधिक अप्रतिष्ठा न सहनी पडे । परन्तु यह कमाई परदेशी चीजों का व्यापार करके अथवा विदेशी सरकार को अत्याचार करने मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सहायता करके प्राप्त करनी होती है और जिस तरह कोई मजदूर कलक्टर साहव का चपरासी हो जाने पर अपनी ही जाति का तिरस्कार करने मे अपने को कृतार्थ समझता है, वैसे ही कुछ-कुछ अग्रेजी पढे मनुष्य भी अपने अग्रेजी ज्ञान से फूलेखा वन कर अपने ही समाज के साथ तुच्छता का वर्ताव रखते है । अच्छे सस्कारी मनुष्यो मे ऐसे दोष कम पाये जाते है और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वे दोष ढक भी जाते है, परन्तु इस परिस्थिति के कारण देश का अपार तेजोवध होता है ।

साराश मे कहे तो अंग्रेजी शिक्षा को लेकर

हम अपनी संस्कृति गंवा बैठे, समाधान गंवा दिया, समाज की एकता भग करदी, स्वदेश का धन विदेश मे भेज दिया, हीन बन कर दूसरो की हर तरह की गुलामी की और स्वराज्य के मार्ग मे एक महाविघ्न रूप हो गये । ये सभी दोष दीपक के समान स्पष्ट होने पर भी हम उन्हे नही देख सकते। यह भी इसी शिक्षा का प्रभाव है । हिन्दुस्तान की वर्बादी के दूसरे सब कारणो को लोग सरलता से स्वीकार कर लेते है, किन्तु अग्रेजी शिक्षा भी हमारे सर्वनाश होने का एक बड़ा कारण है, ऐसा कहते ही कितने ही मनुष्य अपना घोर विरोध प्रकट करेगे क्योकि दूसरे कारणो का बुरा असर तो अपनी पोशाक पर, अपनी जेब पर, अपनी कुटुम्ब व्यवस्था पर या अपनी तन्दुरुस्ती पर हुआ होगा, परन्तु अग्रेजी शिक्षा का प्रभाव तो हमारे मस्तिष्क और हृदय ही के ऊपर पडा है ।

यहा हमारे कहने का आशय यह नही कि हिन्दुस्तान मे कोई भी मनुष्य कभी अग्रेजी पढे ही नही, किन्तु हा, शिक्षा मे अग्रेजी को स्थान नही दिया जा सकता । शिक्षा से सस्कार पूरे हो जाने पर फिर जिसे अग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना

हो, वह बेखटके प्राप्त करे । वह उसमें से बहुत लाभ प्राप्त कर सकेगा ।

यदि शिक्षा में अंग्रेजी को स्थान देना ही हो तो जितना ही देर मे देर कर के दिया जावे, उतना ही ठीक है क्योंकि स्वदेशी, स्वकर्म, स्व-धर्म, स्वभाषा और स्वराज्य के संस्कार दृढ हो जाने के बाद ही कोई अंग्रेजी साहित्य का अभ्यास करे तो उसमें बहुत लाभ उठा सकता है और स्व-देश तथा इंग्लेण्ड को भी बहुत लाभ पहुंचा सकता है । आजकल अंग्रेजी शिक्षा के बदौलत जो हमारी राष्ट्रीय हानि होती जा रही है, उसे तो अति शीघ्र रोक देने की आवश्यकता है ।

इस प्रकार जो भाषा मातृभाषा की सेवा करे, मातृभाषा का गौरव बढावे, उसे तो चाहे अपनाया जाय, लेकिन जो भाषा मातृभाषा को दासी बना रही है, उसे अपनाना कैसे उचित कहा जा सकता है ? ऐसी भाषा हमारे किस काम की ? आज इस अंग्रेजी भाषा ने मातृभाषा को इस प्रकार कुचल डाला है कि हिन्दी, गुजराती, सस्कृत, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओ की पाठशालाओ मे तो अध्ययन अध्यापन का सामान बहुत कम मिलेगा, जो कुछ

होगा, वह अग्रेजी भाषा की पाठशालाओ मे। यदि कोई इस विषय मे कुछ कहने का साहस करता भी है तो उत्तर मिलता है कि हिन्दी के स्कूल मे इस वस्तु की क्या आवश्यकता है ? इस तरह अग्रेजी भाषा रानी बन रही है और मातृभाषा उसकी दासी। अग्रेजी भाषा की शिक्षा ने भारतीय संस्कृति को नष्ट करने मे भी कोई कसर नही रखी। आज यह स्थिति है कि भाग्य से ही कोई अग्रेजी भाषा की शिक्षा प्राप्त किया हुआ भारतीय ऐसा मिलेगा, जिसमे भारतीय सस्कृति के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव विद्यमान हो।

यदि कोई साधु भी अपनी सस्कृति का, अपने सिद्धान्तो का और अपने साहित्य का अध्ययन करके धार्मिक तत्त्व के प्रचार की दृष्टि से अग्रेजी भाषा सीखे तो मुझे कोई विरोध नही है, लेकिन अंग्रेजी शिक्षा के लिए अपने धर्म की उपेक्षा करने और केवल अग्रेजी बोल कर 'जेण्टिलमेन' बनने की धुन मे रहने का मैं अवश्य विरोध करता हूँ।

जो लोग कहते है कि मैं अग्रेजी भाषा का विरोधी हूँ, वे गलती पर हैं। मेरे विषय मे यदि भ्रम फैल गया हो तो उसका निवारण अब हो

जाना चाहिए। मैंने अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिये है।

संस्कृत भाषा की शिक्षा

सस्कृत हमारे देश की प्राचीन भाषा है। देश का अधिकाश धार्मिक-साहित्य इसी भाषा मे रचा गया है। अगर हमे अपने धर्म को समझना है, शास्त्रो के ज्ञान को प्राप्त करना है, अपनी परम्परा और परम्परागत मूल्यो तथा सस्कारो से परिचित होना है तो हर भारतीय विद्यार्थी को सस्कृत आनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सस्कृत आज की सभी भारतीय भाषाओ को बाधने वाली कडी है। समस्त भारतीय भाषाए अपने शब्द-भण्डार के लिए इसकी ऋणी है। इस कारण से भी सस्कृत भाषा की शिक्षा अनिवार्य है। आचार्य श्री ने भी सस्कृत भाषा की शिक्षा पर इसी दृष्टि से सोचा तथा विचार किया। वे यह इच्छा करते थे कि उनके सम्प्रदाय के मुनि सस्कृत की शिक्षा ले तथा सम्प्र-दाय मे सस्कृत के विद्वान होने चाहिए। उनके विचार उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार हैं—

"स्वय मैने व्याकरण आदि का विशिष्ट

अभ्यास नही किया केवल अनुभव की सहायता से शास्त्रो की टीका वाचता हूँ । इस प्रकार शास्त्रो की टीका आदि का अभ्यास करते करते और कुछ सस्कृत भाषा का व्याकरण पढकर मैंने सस्कृत का अभ्यास किया। मैंने सोचा-मैंने तो इस तरह अपना काम निकाल लिया, लेकिन हमारे सम्प्रदाय मे सस्कृत व्याकरण के विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् होने चाहिए । यह सोचकर मैंने कुछ मुनियो को विद्वान् बनाया ।"

३ स्त्री शिक्षा

आचार्यश्री ने जीवन पर्यन्त नारी उद्धार तथा उत्थान के लिए भी कार्य किया। नारी-जाति की उन्नति के लिए वे नारी-शिक्षा को महत्त्व देना सर्वोपरि मानते थे। अपने प्रवचनो मे उन्होने नारी शिक्षा तथा स्त्री-जागरण की प्रबल हिमायत की। उनका यह मानना था कि शिक्षादान की दृष्टि से लिंग का भेद पूर्णत अनुचित है । शिक्षा के पाठ्यक्रम मे कुछ अन्तर इस दृष्टि से हो सकता है, परन्तु दोनो को समान रूप से शिक्षा प्रदान करना नैतिक कर्त्तव्य है ।

स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक होने के साथ ही

वालिकाओं को आधुनिक तौर-तरीको पर दी जाने वाली शिक्षा के विरोधी थे । उनका मानना था कि यह शिक्षा स्त्री जाति को अपने कर्त्तव्य से विमुख करती है तथा उसे विलासिता की देवी बनाती है । इस शिक्षा से उसका तेज, उसकी गरिमा, उसका नारीत्व पतनोन्मुख होता है । उनकी दृष्टि मे वालिकाओ को दी जाने वाली शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उनमे स्नेह, सद्भाव, सादगी, नम्रता, संस्कारिता आदि गुणो को विकसित करे तथा उन्हे सुखमय दाम्पत्य-जीवन के लिए तैयार करे । आज की बालिका कल माता बनने वाली है । वस्तुत माताएं ही किसी राष्ट्र की निर्मात्री होती है । जो संस्कार तथा आदर्श वे अपने बच्चो को देती हैं, उन्ही से राष्ट्रीय-चारित्र्य निर्माण होता है ।

आचार्यश्री के उक्त विचारो को उद्घाटित करने वाले उनके कतिपय कथन यहा उद्धृत है—

राष्ट्र की भावी प्रजा मे वालक-बालिका, कुमार-कुमारिका, पुत्र-पुत्री दोनो का समावेश होता है । जैसे बालको को व्यावहारिक एव धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता है, उसी प्रकार बालिकाओ को भी व्यावहारिक एव धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था

होनी चाहिए । शिक्षा के संबंध में पुत्र और पुत्री मे भेद भाव रखना उचित नही है। बालिकाओ एव कुमारिकाओ की शिक्षा का तौर-तरीका कुछ भिन्न हो सकता है शिक्षा के कुछ विषयो मे भी विभिन्नता हो सकती है । होनी चाहिए भी, परन्तु उनकी शिक्षा को वही महत्त्व मिलना चाहिए जो बालको और कुमारो की शिक्षा को प्राप्त है । जो शिक्षक पुत्र और पुत्री, बालक और बालिका मे शिक्षा-दीक्षा के विषय मे भेद-भाव रखता है, ऊंची-नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है ।

आज की बालिका भविष्य की माता है । कहने की आवश्यकता नही कि राष्ट्रोद्धार मे माता का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है ? भविष्य मे जो माता के पद को गौरवान्वित करेगी, आज की उस बालिका को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए, यह विचार करना प्रशास्ता का काम है । बालिकाओ को सिलाई, गुथाई, अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है पर पाकविद्या, बालसंगोपन आदि का सक्रिय ज्ञान देने की उनसे भी अधिक आवश्यकता है । स्त्री जाति मे

सहिष्णता, कोमलता और सेवा-परायणता का गुण प्राकृतिक है । प्रशास्ताओ को चाहिए कि वे ऐसी योजना करे जिससे उनके प्राकृतिक गुणो का विकास हो और उनका मानव जाति की भलाई मे उपयोग हो ।

स्त्री-शक्ति एक प्रचंड शक्ति है । इस प्रचंड शक्ति के सदुपयोग से विश्व का कल्याण साधा जा सकता है । नारी-जागरण के बिना राष्ट्रोद्धार की कल्पना भी मूर्त रूप धारण नही कर सकती । जो महाशक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकती है उसे दबाये रखने से उद्धार के बदले कितना अध पतन होता है, यह बात आज के स्त्री-जीवन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी । आज का स्त्री-जीवन पुरुषो के फोलादी पजे के नीचे पामर बन गया है । आज स्त्री-जीवन मानों पुरुषों की वासना तृप्त करने का ही एक जीवित पुतला-सा बन रहा है । सामाजिक रूढियों के अधकार मे उस जीवन का तेज विलीन हो गया है । वास्तव मे स्त्री मे भी पुरुष के समान बुद्धि, शक्ति और तेजस्विता है । भारतीय साहित्य में स्त्री-जाति के त्याग और उनकी अनुपम सेवा के अनेक आदर्श दृष्टान्त उपलब्ध

होते हैं । स्त्री-जाति की उपेक्षा करके अब तक कोई भी राष्ट्र समुन्नत नही वन सका है और नही वन सकता है । स्त्री-जाति के सहयोग से ही पुरुप जाति स्वपर का कल्याण कर सकती है । अतएव स्त्री-जाति की शक्ति विकसित करने के साधन प्रस्तुत करना, इस सम्वन्ध मे जनता का पथ प्रदर्शित करना और स्त्री-शक्ति का राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य मे उपयोग करना प्रशास्ताओ (स्थविरो) का कर्त्तव्य है ।

आज स्त्री जाति की हीनावस्था पर दृष्टिपात करने से प्रत्येक राष्ट्र प्रेमी को दुख हुए विना न रहेगा । अगर इस हीनावस्था के कारणो की जाच की जाय तो मालूम होगा कि स्त्री जाति को समुचित शिक्षा न देना ही इस हीनावस्था का प्रधान कारण है ।

जहा कही नगरो मे कन्याओ को शिक्षा दी जाती है, वह प्राय जीवन-विकास की नही, वरन् जीवन विकार की शिक्षा होती है । आज स्त्री-शिक्षा मे विलासिता ऐसी आ घुसी है कि उसने शिक्षा का हेतु ही नष्ट कर दिया है । अक्सर इस

शिक्षा से शिक्षित कन्या सेवा और संयम की मूर्ति वनने के बदले विलासिता की मूर्ति बन जाती है। यह स्त्री-शिक्षा की प्रणाली का दोष है। प्राचीन काल में स्त्री-शिक्षा का अभाव था, यह बात नही है। उस समय स्त्रियां 'स्त्रीशिक्षा' प्राप्त कर, पण्डिता वनकर सुन्दर जीवन-व्यवहार चलाती थी और आदर्श दाम्पत्य-जीवन का उदाहरण सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती थीं। इतना ही नही, वड़े-वडे पण्डितो के शास्त्रार्थ मे निर्णायिका वनने का गौरव भी उन्हे प्राप्त होता था। कहते है, मडन मिश्र और शंकराचार्य जैसे दिग्गज विद्वानो के शास्त्रार्थ मे मंडनमिश्र की पत्नी 'भारती' निर्णायिका वनी थी। कई दिनो के शास्त्रार्थ के पश्चात् विदुषी भारती ने निर्णय दिया था—'शंकराचार्य जीते और मेरे पतिदेव पराजित हुए।' इस दृष्टान्त से उस समय की स्त्री जाति की प्रामाणिकता और विनीतता पर भी प्रकाश पड़े विना नही रहता।

आज अगर कोई स्त्री साधारण पढना-लिखना सीख लेती है तो क्या पूछना? उसके खान-पान मे, रहन-सहन और पहनाव में एक दम परिवर्तन हो जाता है। वह अपने आपको पढी-लिखी मानित

करने के लिये विदेशी महिलाओ की भांति विला-सिता और फैशन मे डूब जाती है । अंध-अनुकरण की वृत्ति शिक्षा का कुफल है ।

दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिये स्त्रियो को स्नेह, सद्भाव, सादगी, नम्रता, सस्का-रिता आदि सद्गुण अपनाने चाहिये । अपनी प्राचीन सस्कृति स्त्री जाति को सस्कार और शिक्षण द्वारा स्त्री-जीवन को सुखमय बनाने की सलाह देती है । आज पाश्चात्य शिक्षा ने अपनी प्राचीन सस्कृति का आदर्श विनष्ट कर दिया है । आज वह शिक्षा दी जा रही है जिससे स्त्री-धर्म के अभ्युदय के बदले स्त्री धर्म के आदर्श का अध पतन हो रहा है ।

४ आदर्श शिक्षक

शिक्षा देने वाला शिक्षक ही वस्तुत राष्ट्र-निर्माता होता है । वह जैसी शिक्षा देगा, उसी के अनुरूप राष्ट्र के भावी-नागरिको, राज-नेताओ प्रशासको आदि का निर्माण होता है । आचार्य श्री ने शिक्षको मे माता-पिता, शिक्षक तथा धर्म-गुरुओ सभी को सम्मिलित किया है । इनमे प्राथ-मिक स्थिति पर माता-पिता तथा द्वितीय स्थिति

पर शिक्षा देने वाले शिक्षकों का उत्तरदायित्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है । शिक्षा मे माता-पिता का क्या उत्तरदायित्व है, इस पर भी आचार्य श्री ने अपने विचार प्रकट किए है, जिन्हे हम आगे प्रस्तुत करेगे । यहां शिक्षकों के कर्त्तव्यों की ओर सकेत करने वाले उनके वचनों को उद्धृत किया जा रहा है—

मानव समाज को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा देने का उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य प्रशास्ता-सरक्षक अर्थात् माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि स्थविरों के सुपुर्द है । प्रशास्ता-स्थविर मानव-समाज का सस्कर्त्ता है । वह जैसी शिक्षा-सस्कृति मानव हृदय में उतारेगा, मानव समाज की भावी घडन वैसी ही होगी । इस प्रकार मानव समाज का भविष्य निर्माण प्रशास्ता-स्थविर के हाथ मे है ।

पाठशाला मे माता-पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है । शिक्षक, बालको को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षक-धर्म निभाता है । बालक अपनी किशोर अवस्था मे शिक्षा का सचय करता है । आजकल की शिक्षा प्रणाली

उसे शिक्षा-दान देकर ही कृतार्थ मान लेती है, मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर इसका ध्यान नही जाता । वह बात है-शिक्षा को जीवन मे मूर्त रूप देना । शिक्षा को सिर्फ दिमाग मे स्थान देने से, उसे जीवन-व्यवहार मे एकरस न बनाने से, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है । ऐसे लोग शिक्षित भले ही कहलावे, पर सस्कारी कहलाने का दावा नहीं कर सकते । शिक्षा उनके मस्तिष्क का बोझ मात्र होती है, जबकि वह जीवन का संस्कार बननी चाहिए । अतएव शिक्षक को इस ओर पूरा लक्ष्य देना चाहिए । इसी मे बालक के भावी जीवन का भाग्योदय है ।

शिष्य की योग्यता के अनुसार शिक्षा प्रदान करना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है । × × × सब धान बाईस पसेरी तोला जाना—एक सी शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा विसंवाद पैदा हो जाएगा । इस हालत में शिक्षा का स्वाभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही सभावना होगी । अतएव सब प्रकार के विसवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना शास्ताओं का मुख्य कर्त्तव्य है ।

बालको को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है। केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियो का विकास नही हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी नही होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वांगीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियो के विकास पर निर्भर करता है। इस और ध्यान देना प्रशास्ताओ का दूसरा कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओ का तीसरा कर्त्तव्य है—कुमार-कुमारिकाओ के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा का प्रबंध करना। जब बौद्धिक शिक्षा एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा, तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योग-शिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा पगु है—एकागी है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है—धार्मिक आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना। जीवन के व्यावहारिक कार्यों का श्रम हलका करने के लिए आध्यात्मिक शाति की अपेक्षा होती है और आध्यात्मिक शाति धर्म-शिक्षा से मिलती है। अतएव बालक-बालिका मे धार्मिक संस्कार दृढ़ करने के लिए

धर्म-शिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रशास्ताओ का पांचवां कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा-दीक्षा देने मे किसी प्रकार जातिभेद या वर्ण-भेद का सामाजिक अतराय हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करे। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के वाधक तत्त्व हैं।

प्रशास्ताओ का छठा कर्त्तव्य है-शिक्षा मे भय, तर्जना या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना क्योकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डर कर भूल जाता है। अत-एव विद्यार्थियो के हित के लिए शिक्षा के क्षेत्र मे से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओ का सातवा कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियो को पढने समझने, याद करने मे सुगम, सरल और वोधप्रद पाठ्यपुस्तको द्वारा जो राष्ट्रीय भाषा मे लिखी हो, शिक्षा दें, जिससे विद्यार्थियो का थोडे समय में अधिक लाभ हो सके और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कभी २ कामोद्दीपन करने वाले साधनो का उपयोग करने लगते है और इस प्रकार उनकी साधना मे महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और कामशामक वायुमण्डल पैदा करना, प्रशास्ताओ का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओ का नवां कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दे जो केवल तोता-रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियो की तर्कशक्ति और अवलोकन-शक्ति बढाने वाली, साथ ही विषय का तलस्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओ का दसवां कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना, जिससे उनमे अपने राष्ट्र, राष्ट्र धर्म, राष्ट्र नेता के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृभूमि के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने धर्म के प्रति कर्त्तव्य-भावना जागे और उन्हे इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र,

समाज एवं देश की शिक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यकता है।

प्रशास्ताओं का ग्यारहवा कर्त्तव्य है-विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किस विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है, उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस सम्बन्ध मे भलीभांति जांच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिए, उसी में उसे पारंगत बनाना चाहिए। शेष उपयोगी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिए। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य विषयों में उसकी रुचि पैदा करना आवश्यक है। ज्ञात होता है, इस प्रकार की शिक्षा-योजना से विद्यार्थियों का पर्याप्त विकास होगा और उनका जीवन-व्यवहार सुन्दर रूप से चलेगा।

सारांश यह है कि कुमार-कुमारिकाओं को कैसी शिक्षा दें और किस प्रकार देनी चाहिए, इत्यादि शिक्षा सम्बन्धी सब प्रकार का विचार करना और तदनुकूल व्यवस्था करना प्रशास्ता का कर्तव्य है। प्रशास्ता एक क्षण के लिए भी यह बात न

भूले कि उससे ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र, समाज और धर्म की गभीर जवाबदारी है।

माता-पिता : प्रथम शिक्षक

बालक को प्रथम शिक्षा उसकी शैशवावस्था से ही मिलती है। यह ही उसकी प्रथम पाठशाला है तथा माता-पिता ही उसके प्रथम शिक्षक। जो संस्कार बालक अपने माता-पिता से, घर के वातावरण से कोमल वय मे सीख लेता है, वे जीवन पर्यन्त उसके साथ रहते हैं तथा उसके जीवन को बहुत कुछ प्रभावित करते हैं। अत अपनी सन्तान की शिक्षा की दृष्टि से माता-पिता का उत्तरदायित्व किसी भी प्रकार से शिक्षक से कम नही है। आचार्य श्री ने शिक्षा-क्रम मे माता-पिता के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को अनुभव किया था। उनका तो यह मानना था कि किसी स्त्री-पुरुष को माता-पिता बनने का अधिकार उसी स्थिति मे है, जब वे स्वय शिक्षित और संस्कार सम्पन्न हों। शिक्षित और सस्कार-सम्पन्न माता-पिता ही राष्ट्र के भावी कर्णधारो को योग्य बना सकते हैं। आचार्य श्री के शब्दों में—

'राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हे-नन्हें वालक हैं। वालको को छुटपन मे, घर में, माता-पिता द्वारा शिक्षण-संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण मे, भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी वाल्यकाल मे माता-पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह वालक के जीवन का भविष्य निर्माण करता है और इस कारण वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वाल्यकाल मे माता-पिता ही बालको के सच्चे प्रशास्ता-शिक्षक हैं। पाठ्यपुस्तको द्वारा, शिक्षको द्वारा या धर्मगुरुओ द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है, वह वाल-मानस मे इतना जीवन-स्पर्शी नही होता, जितना माता-पिता द्वारा शैशवकाल मे प्रदत्त सस्कार होता है। जिन्होने वाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सव इसी नतीजे पर पहुचे हैं।

वाल-मानस इतना अधिक निर्मल होता है कि जैसे सस्कारो की छाप उस पर अंकित की जाय, वह वहुत शीघ्र, स्थायी रूप से अकित हो जाती है।

वाल-जीवन को शिक्षित और सुसस्कृत वनाने

के लिए घर ही पाठ्यपुस्तक है। माता-पिता ही बालक के सच्चे शिक्षक है और सुन्दर आचार-विचार ही उसकी सच्ची शिक्षा है। जैसे नीति-नियम, वर्त्ताव, धार्मिक विचार माता-पिता के होगे, वैसे ही सस्कार उनके बालक मे प्रतिविम्वित होगे। स्पष्ट है कि भावी प्रजा के जीवन की संस्कारिता का उत्तरदायित्व माता-पिता पर अत्यधिक है।

'माता-पिता सौ शिक्षको का काम देते है,' यह कथन जितना सत्य है, उतना ही आदरणीय और आचरणीय है। मगर माता-पिता अगर सुशिक्षित और सुसंस्कृत हो, तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने से पहले ही मनुष्य को शिक्षित और सस्कारी बनना आवश्यक है।

सन्तान के प्रति माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है और उन पर कितना महान् उत्तरदायित्व है, यह बात माता पिता को भली-भाति समझ लेनी चाहिये। सन्तान का सुख ससार मे बहुत बडा माना जाता है, तथापि सन्तान को अपने मनोरंजन और सुख का साधन मात्र बनाकर उसकी स्थिति खिलौना

जैसी वना देना उचित नही है । जो माता-पिता वालक के प्रति अपने उचित कर्त्तव्य का पालन नही करते, वे अपने उत्तरदायित्व से च्युत होते है। माता-पिता बालक को गुडियो की तरह सिंगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नही पा सकते। जिसे जिन्होने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हे करना है और जीवन-निर्माण का अर्थ है सस्कार-सम्पन्न वनाना तथा बालक की विविध शक्तियो का विकास करना। शक्तियो का विकास हो जाने पर वे सन्मार्ग मे लगे, सत्कार्य मे उनका प्रयोग हो और दुरुपयोग न हो, यह साव-धानी रखना भी माता-पिता का कर्त्तव्य है ।

लोगो की दृष्टि प्राय. पाठशाला की ओर ही लगी रहती है । पाठशाला मे इतने अधिक बालक इकट्ठे होते हैं कि न तो प्रत्येक की रुचि और शक्ति का पूरा पूरा खयाल किया जा सकता है और न कुलधर्म ही वहा सिखलाया जाता है । इस कारण पाठशाला की शिक्षा का परिणाम कभी-कभी उलटा निकलता है । अतएव आठ वर्ष तक माता-पिता को स्वयं ही अपनी सतान को शिक्षा देनी चाहिए।

संतान को शिक्षा देने के लिए माता-पिता को अपने जीवन व्यवहार की सरलता और शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। बालक माता–पिता के कहने से उतना नहीं सीखता, जितना उनके करने से सीखता है।

—

चौबीसवी किरण	— प्रार्थना प्रबोध	३ ७५	पैसे
पच्चीसवी ,,	— उदाहरणमाला, प्रथम भाग	२ ००	,,
छब्बीसवी ,	— उदाहरणमाला, द्वितीय भाग	३ २५	,,
सत्ताईसवी ,,	— ,, ,, तृतीय भाग	२ २५	,,
अट्ठाईसवी ,,	— नारी जीवन	२ २५	,,
उनतीसवी ,,	— अनाथ भगवान्, प्रथम भाग	२ ००	,,
तीसवी ,,	— ,, ,, द्वितीय भाग	१ ५०	,,
सद्धर्म-मडन		११.००	,,

(श्री सम्यक्ज्ञान मंदिर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित)

इकतीसवी किरण	— गृहस्थ धर्म, प्रथम भाग	१ ६२	पैं०
बत्तीसवी किरण	— ,, ,, द्वितीय भाग	१ ७५	,,
तेतीसवी किरण	— ,, ,, तृतीय भाग	१ ५०	,,

(श्री जैन जवाहर मित्र मंडल, ब्यावर द्वारा प्रकाशित)

तेरहवी किरण	— धर्म और धर्मनायक	२ ६०	पैं०
चौदहवी ,,	— राम वनगमन, प्रथम भाग	३ ००	,,
पन्द्रहवी ,,	— ,, ,. द्वितीय भाग	३ ००	,,
चौतीसवी ,,	— सती राजमती	२ ००	,,
पैंतीसवी ,,	— सती मदनरेखा	२ ७५	,,

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन सघ द्वारा प्रकाशित)

छठी किरण	— रुक्मिणी विवाह	२ २५	पैसे
सोलहवी किरण	— अजना	१.२५	,,
वीसवी किरण	— शालिभद्र चरित्र	२ २५	,,

हरिश्चन्द्र तारा	२.०० पैसे
जवाहर ज्योति	३ ०० ,,
चिन्तन–मनन अनुशीलन, प्रथम भाग	१ ०० ,,
,, ,, ,, द्वितीय भाग	१.०० ,,

(श्री श्वे. साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर द्वारा प्रकाशित)

जवाहर–विचार सार	२ ५० पैसे

(श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम द्वारा प्रकाशित)

सेट—१

श्री भगवती सूत्र पर व्याख्यान, भाग ३	४ ०० पै०
,, ,, ,, ,, ४	
,, ,, ,, ,, ५	
,, ,, ,, ,, ६	

सेट—२

अनुकम्पा–विचार, भाग १	२ ०० पैसे
,, ,, ,, २	

सेट—३

राजकोट के व्याख्यान, भाग १	२ ५० पैसे
,, ,, ,, ,, २	
,, ,, ,, ,, ३	

सेट—४

सम्यक्त्व-स्वरूप श्रावक के चार शिक्षाव्रत श्रावक के तीन गुणव्रत श्रावक का अस्तेयव्रत श्रावक का सत्यव्रत परिग्रह परिमाणव्रत	१ ५० पैसे

सेट—५

तीर्थङ्कर चरित्र, प्रथम भाग ,, ,, द्वितीय भाग सकडाल पुत्र सनाथ-अनाथ निर्णय श्वेताम्वर तेरह पथ	२ ५० पैसे

नोट—पूरे सेट लेने पर ११.०० में प्राप्त होंगे ।

धर्म व्याख्या	१ २५ पैसे
सुदर्शन-चरित्र	२.२५ ,,
श्री सेठ धन्ना चरित्र	१ ५० ,,

परिशिष्ट—२

हमारे अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर

(परम पूज्य स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के व्याख्यान)

जैन सस्कृति का राजमार्ग	२ ५० पैसे
आत्म-दर्शन	१ ५० ,,
नवीनता के अनुगामी (सम्यक्ज्ञान मदिर, कलकत्ता का प्रकाशन)	१ २५ ,,
पूज्य गणेशाचार्य जीवन-चरित्र (अर्द्ध मूल्य)	५ ०० ,,

(परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के प्रवचन)

पावस-प्रवचन प्रथम भाग (जयपुर)	२.५० पैसे
,, ,, द्वितीय भाग ,,	२.५० ,,
,, ,, तृतीय भाग ,,	३.५० ,,
,, ,, चतुर्थ भाग ,,	५.०० ,,
,, ,, पाचवा भाग ,,	५.५० पैसे
ताप और तप (मन्दसौर)	२ ५० ,,
शाति के सोपान (ब्यावर)	३.२५ ,,
समता-दर्शन और व्यवहार	४.००

आध्यात्मिक वैभव (बीकानेर)	१ ५० ,,
आध्यात्मिक आलोक (बीकानेर)	१.५० ,,

(पाकेट-बुक साइज)

सौन्दर्य दर्शन (कथा सग्रह)		२.००
श्रीमद् जवाहराचार्य	जीवन और व्यक्तित्व	,,
,,	शिक्षा	,,
,,	समाज	,,
,,	सूक्तिया	,,

(परिनिर्वाण-वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित)

भगवान महावीर, आधुनिक सदर्भ मे	४०.००
Lord Mahavir & His Times	६०.००
Bhagwan Mahavir and His Relevence in Modern Times	२५.००

(विविध)

समता जीवन	०.५०
समता-दर्शन, एक दिग्दर्शन	०.५०
सकल्प, समता और स्वास्थ्य	०.३०
वीरसघ (रूपरेखा एव नियमावली)	०.२५
वीरसघ दर्शन एवं विवेचन	०.५०
धर्मपाल प्रवृत्ति	०.५०

परिशिष्ट—३

श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला

प्रकाशन–योजना

१. श्रीमद् जवाहराचार्य जीवन और व्यक्तित्व
● डॉ० नरेन्द्र भानावत, महावीर कोटिया

२. श्रीमद् जवाहराचार्य : धर्म
● कन्हैयालाल लोढा

३ श्रीमद् जवाहराचार्य समाज
● ओकार पारीक

४ श्रीमद् जवाहराचार्य राष्ट्रीयता
● डॉ इन्द्रराज वैद

५ श्रीमद् जवाहराचार्य : शिक्षा
● महावीर कोठिया

६ श्रीमद् जवाहराचार्य : नारी
● डॉ. शान्ता भानावत

७ श्रीमद् जवाहराचार्य : साहित्य
● डॉ नरेन्द्र भानावत

८ श्रीमद् जवाहराचार्य : सूक्तियां
● डॉ नरेन्द्र भानावत, कन्हैयालाल लोढा

समराइच्च कहा (प्रथम भाग)	
मूल, संस्कृत-छाया और हिन्दी अनुवाद	१५.००
अनुभव पराग	२.००
क्रान्तद्रष्टा श्रीमद् जवाहराचार्य	५.००
श्रमणोपासक (पाक्षिक पत्र) वार्षिक	१०.००
आजीवन	१५१.००